गुरु घासीदास विश्वविद्यालय

(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)

केन्द्रीय विश्वविद्यालय अधिनियम 2009 के अंतर्गत स्थापित

बिलासपुर, (छत्तीसगढ़) भारत

अंक-04, सितम्बर 2023

गुरु-दर्शन

राजभाषा प्रकोष्ठ
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)

कुलगीत

'मनखे–मनखे एक समान'

बाबा गुरु घासीदास
1756 - 1850

गुरु कृपा के पुण्य परस से, विद्या का वरदान है।
घासीदास विश्वविद्यालय, हम सब का अभिमान है।
महानदी, शिवनाथ, नर्मदा, हसदो, पावन धारा है।
अंतः सलिला अरपा का, सतत् प्रवाह हमारा है।
छत्तीसगढ़ की माटी का, यह अभिषेक महान है।
भोरमदेव, सरगुजा, शिवरी, रतनपुर, मल्हार यहीं।
कालिदास का आम्रकूट है, अमर काव्य श्रृंगार यहीं।
धरती, गगन, सघन वन गूंजे, जीवन का नवगान है।
शस्य भगीरथ कोरबा जैसी, लोक-शक्ति की लाली है।
जाग उठे हैं गांव हमारे, जागे सभी किसान हैं।
ज्ञान सभ्यता से आलोकित, विद्वत्जन सम्मान जहां।
माधव, लोचन, मुकुटधर पाण्डेय, बख्शी जी अरु भानु यहां।
राव, विप्र, रविशंकर, छेदी, कुंवर वीर का गान है।
मानव मूल्यों का सृजन करें हम, समता, ममता, शांति भरे।
हर्षित, पुलकित हो भारत मां, सुख-समृद्धि सर्वत्र झरे।
विद्या-मंदिर के प्रांगण से, नव-युग का अभिमान है।
गुरु कृपा के पुण्य परस से, विद्या का वरदान है।

गुरु घासीदास विश्वविद्यालय का यह कुलगीत प्रसिद्ध राजनेता एवं ख्यातिलब्ध साहित्यिक कवि और छत्तीसगढ़ विधानसभा के प्रथम अध्यक्ष स्व. **पं. राजेन्द्र प्रसाद शुक्ल द्वारा रचा गया है।**

गुरु घासीदास विश्वविद्यालय के आदर्श मूल्य

1. अकादमिक सत्यनिष्ठा और मानवीय गरिमा के अनुरुप चरित्र, क्षमता और सृजनात्मकता का विकास।
2. स्थानिक, पारम्परिक और जनजातीय मूल्यों पर विशेष ध्यान देते हुए ज्ञान और नवोन्मेष के माध्यम से बुद्धिमता और श्रेष्ठता का विकास।
3. उद्यमिता एवं नवोन्मेष की भावना का संचरण।
4. वैज्ञानिक लोकाचार एवं लोकतांतिक मूल्यों का अन्तर्निवेषण।
5. सहिष्णुता, सत्य, क्षमाशीलता और ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' जैसे मूल्यों का संवर्धन।
6. सांस्कृतिक एवं सामाजिक विविधता के प्रति सम्मान का अन्तर्निवेषण।
7. विचार एवं चिन्तन की अभिव्यक्ति को प्रोत्साहन।
8. शिक्षार्थी केन्द्रित अकादमिक वातावरण विकसित करना और सुगमता, समानता एवं समावेशन का संवर्धन।
9. शिक्षार्थियों में राष्ट्रीय मूल्यों एवं अखण्डता का अन्तः संचरण।
10. राष्ट्रीय विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु शैक्षणिक प्रयासों का संवर्धन।

डॉ. प्रसून सोनी

कविता

मैं सफर बन गया

मैं सफर बन गया सब में घुल मिल गया
मैंने बोला नहीं और ग़ज़ल बन गया

इक नदी बन गई सिंधु मे मिल गई
खुदसे मैं तो तुम्हें फिर भिगोता रहा

शुन्य से हम चले धरती के द्वार पर
सब में जीवन हमारे सदन तक रही
पुष्प के उपनिषद मर्यादित रही
जल के कोमल प्रसंग वृक्ष गाता रहा

एकता एकता एकता एकता
राष्ट्र कि एकता ज्ञान की एकता

मैं तुम्हें तुम मुझे प्यास के अंक तक
भूल जाते रहे भूल जाता रहा

प्राण के स्वर्ग पर वृक्षों के छांव को
तुम मिटाते रहे मैं उगाता रहा

श्रेष्ठतम बन गए तुम जो फल बन गए
अंश फल का मिला तो सफल बन गए
सफर मेरा सबसे अछुता रहा
मैं तो घुलता रहा सब में मिलता रहा

एकता एकता एकता एकता
शक्ति की एकता प्राण की एकता

सूर्य के साथ हम तो चले शाम तक
रंगों के अब कई फिर धनुक बन गए
सूर्य तो जन्म से ही अकेला रहा
जिसमें मिलता रहा उतना जीवन हुआ

एकता एकता एकता एकता
शक्ति की एकता प्राण की एकता
एकता एकता एकता एकता
राष्ट्र कि एकता ज्ञान की एकता

मैं सफर बन गया सब में घुल मिल गया
मैंने बोला नहीं और ग़ज़ल बन गया

❑ **सहायक प्राध्यापक**
ग्रामीण प्रोद्योगिकी

गुरु-दर्शन

(राजभाषा प्रकोष्ठ की वार्षिक पत्रिका)

संरक्षक
प्रो. आलोक कुमार चक्रवाल
कुलपति

प्रबंधन
प्रो. मनीष श्रीवास्तव
कुलसचिव

सम्पादक
अखिलेश कुमार तिवारी
हिंदी अधिकारी

सम्पादक मण्डल
डॉ. गौरी त्रिपाठी
डॉ. संतोष सिंह ठाकुर
डॉ. रमेश कुमार गोहे

राजभाषा प्रकोष्ठ
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
दूरभाष : (07752) 260473
ई–मेल–rajbhashacellggu@gmail.com

आवरण

गुरु-दर्शन

दर्शन का संबंध साक्षात्कार से है। साक्षात्कार के व्यापक संदर्भों में से एक आत्म साक्षात्कार भी है। आत्म साक्षात्कार का संबंध खुद को जानने, समझने और सीखने से है। हमारे सीखने या जानने के जो भी स्रोत हैं, उन्हें हम गुरु रूप में स्वीकार करते हैं। मनुष्य प्रकृति में सीखने या जानने का सबसे उत्सुक प्रतीक है उसने अपना समस्त ज्ञान प्रकृति से ही अनुभूत कर अर्जित किया है। सहजता ज्ञान का प्रमुख उपादेय है समता के बीज इसी में सन्निहित हैं। ज्ञान 'स्व' से परे 'पर' की स्वीकारोक्ति देता है। यह 'पर' का स्वीकार ही हमें संवेदनशील बनाता है, और सत्य के अधिक निकट ले जाता है। अठारहवीं सदी के महान संत एवं सतनाम पंथ के प्रवर्तक गुरु घासीदास जी के नाम पर स्थापित है। उन्होंने अपनी अमृतवाणी में इसी समता और सत का संदेश दिया है। आवरण चित्र के माध्यम से गुरु घासीदास जी के संदेशों के अनुरूप समता और सत्य के प्रकाश को मनुष्य द्वारा स्वीकार करते हुये उसे ज्ञान के माध्यम से अधिक मानवीय, सहज एवं सत्यनिष्ठ होने के प्रतीक रूप में दर्शाया गया है।

(आवरण पृष्ठ की साज–सज्जा विश्वविद्यालय की टीम उड़ान–8 के छात्र–छात्राओं ने की है)

डॉ. रमेश कुमार गोहे

कविता

प्रसव पीड़ा की सदी

यह सदी उन स्त्रियों के साहस को समर्पित है
जो अपनी कोख़ में कन्या भ्रूण पालकर,
और उन्हें जन्म देकर बड़ा कर रही हैं,
वें स्त्रियाँ अपना सिर गर्व से ऊँचा उठाकर कहतीं हैं
हमें अपनी बेटियों पर नाज है ।

यह सदी उन कुत्सित इरादों के भ्रूण
की खोज और पड़ताल करने की भी है
जो कन्या भ्रूण को,
जन्म लेने से पहले ही,
मार देना चाहते हैं,
स्त्री की कोख़ में ।

यह सदी,
उन वयोवृद्ध महिलाओं को जगाने की भी है,
जो सास-ननद बनकर,
अपने माथे पर,
ढो रही है पितृसत्ता का बोझ,
और
बेटी जनने पर
घर की बहू का जीवन नरक कर देती हैं ।

यह सदी उन कायर और मजबूर पिताओं
को जीते जी श्रद्धांजलि देने की भी है,
जो बेटे के जन्म की खातिर,
घर में खड़ीकर देते हैं,
लड़कियों की कतारें,

यह सदी उन मृतात्माओं को जिन्दा करने की भी है
जिनको बेटी के जन्म लेने पर
गर्व महसूस हो
और उसकी वजह से माताओं पर अत्याचार बंद हों ।

यह सदी उन दुल्हनों पर गर्व करने की भी है
जिन्होंने पूरी हिम्मत के साथ गला घोटा है
दहेज़ के दानवों का ।

यह सदी है खुद की पड़ताल करने की भी,
कि कितने आगे बढ़ पायें हैं हम अपनी
अपनी संक्रीर्ण विचारधाराओं से ।
तो करते हैं सोचना शुरू और
लेते हैं एक अल्प विराम ,
अगर कुछ कर लिया अच्छा तो
करनी ही चाहिए
एक अच्छे कदम की
शुरुआत
जिससे
आगामी सदी में याद किया
जाये हमारा भी इतिहास
कि हमने
भी
किये थे कुछ बड़े काम
पिछली सदी में ।

❑ **सहायक प्राध्यापक,** हिंदी

संदेश

प्रो. आलोक कुमार चक्रवाल
कुलपति

हमें यह जानकर बेहद प्रसन्नता हो रही है कि गुरु घासीदास विश्वविद्यालय के राजभाषा प्रकोष्ठ द्वारा भाषा की उपलब्धियों को संग्रहीत करने के लिए "**गुरु-दर्शन**" पत्रिका के चर्तुथ अंक का सम्पादन और प्रकाशन किया जा रहा है। गुरु दर्शन का यह अंक निश्चित ही राजभाषा के तमाम संदर्भों और भविष्य की योजनाओं को समेटने का प्रयास करेगा।

'**गुरु-दर्शन**' के माध्यम से राजभाषा हिन्दी के अप्रतिम योगदान में हम सभी सहभागी बनेंगे। हमें पूरा विश्वास है कि यह पत्रिका अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल होगी।

इस महत्त्वपूर्ण प्रयास के लिए गुरु-दर्शन के समस्त संपादकीय सदस्यों को हार्दिक बधाई और शुभकामनाएं।

संदेश

प्रो. मनीष श्रीवास्तव
कुलसचिव

य ह अत्यंत हर्ष का विषय है कि गुरु घासीदास विश्वविद्यालय के राजभाषा प्रकोष्ठ की वार्षिक पत्रिका गुरु-दर्शन का यह चतुर्थ अंक प्रकाशित होने जा रहा है ।

यह पत्रिका उत्तरोत्तर अपने उत्कर्ष की ओर अग्रसर है । प्रस्तुत अंक में प्रकाशित लेख, कहानियाँ, शोधालेख, कवितायें आदि अपने वर्णन की नवीनता एवं वैविध्य के कारण महत्वपूर्ण हैं। सभी रचनाकारों ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से इसे संवर्धित करने का महत्तर प्रयास किया है । इसके लिए उन्हें बधाई ।

सफलतापूर्वक नवीन विषयों के संकलन एवं सम्पादन तथा प्रकाशन हेतु राजभाषा प्रकोष्ठ, गुरु-दर्शन पत्रिका सम्पादन समिति एवं वे समस्त जिन्होंने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से पत्रिका के प्रकाशन में सहयोग किया उनको भी बधाई।

लेखकीय वकतव्य में स्पष्ट है कि उपन्यास जीवनीपरक होने के बावजूद 'पूरी तरह से लालन के प्रकृत ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित जीवनी नहीं है। कारण उनके जीवन का इतिहास तथ्यात्मक तौर पर सामान्य ढंग से ही उपलब्ध है।' यहां उपन्यासकार ने प्राप्त यत्किंचित तथ्यों के आधार पर अपनी कल्पना शक्ति द्वारा लालन के जीवन का संसार रचा है, जिसमें उन्होंने "उस समय के इतिहास से भी जानकारी प्राप्त की कि उस समय का संसार कैसा रहा होगा।'

१८वीं शताब्दी के समय ग्रामीण बंगाल जिस प्रकार की आर्थिक, धार्मिक समस्याओं से यस्त था उसकी एक व्यापक तस्वीर सुनील गंगोपाध्याय ने इस उपन्यास के माध्यम से प्रस्तुत की है। इसके अलावा आज हम जिस प्रकार की धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक असहिष्णुता के दौर से गुजर रहे हैं, ऐसे समय में लालन का जीवन धर्मनिरपेक्ष विश्वास, शांति और सद्भाव का प्रतीक है और उनके गीत प्रगतिशील चेतना के इनके गीत बंगाल में बाऊल नाम से प्रसिद्ध है और लालन फकीर बाऊल समाट माने जाते हैं। लालन का जीवन, गीत व विचारधारा का प्रभाव पं. बंगाल में इतना अधिक रहा है कि सन 1971 में जब बांग्लादेश पाकिस्तान से अलग होकर एक देश के रूप में उभरा तो कुछ लोगों को वहाँ से निर्वासित होना पड़ा। ऐसे समय में बाऊल दार्शनिको ने अपने गीतों के माध्यम से परिधीय आंदोलन का प्रदर्शन किया, जिसमें बाऊल सम्राट लालन का चित्रण ऐसे व्यक्ति के रूप में किया गया है जिसकी उपस्थिति समाज में निष्कासित मनुष्य की है और जो जीवित रूप में न होते हुए भी सांस्कृतिक, धार्मिक, बौद्धिक, राजनीतिक क्षेत्रों में अपने गीतों द्वारा पं. बंगाल और बांग्लादेश दोनों ही तरफ केन्द्रीय अंतरिक्ष के समान है। हालांकि लालन कोई बुद्धिवेत्ता या राजनीतिज नहीं थे, किन्तु उन्होंने अपने गीतों में जिस प्रकार से पूरे समाज को उठाया है वह उनकी प्रगतिशील चेतना का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह चेतना लालन फकरी के मानव धर्म की देन है। चूँकि "एक फकीर अपने गीतों के माध्यम से लोक की रक्षा, समाज का परिचालन तभी कर सकता है जब वह मानव मूल्यों में गहरी आस्था रखता हो। यह मानव धर्म ही लालन के लोकधर्मी जीवन वृत्त का केन्द्र है। और यह लोकधर्म शास्त्र से हीन होते हुए भी उसका विकल्प बनकर उपस्थित होता है। यही उसकी शक्ति है। जैसा कि जायसी कहते है- 'मानुष प्रेम भएक बैकुंठी / नाही त काह छार भर मुठी।' अर्थात लोक का एक विशिष्ट पहलू लोक की अपनी विशिष्ट संस्कृति ही होती है। जिसमें लोक का व्यवहार, उसके आचार-विचार मूर्त होते हैं। इन्हीं आचार-विचारों का मूर्तिकरण सुनील गंगोपाध्याय ने मोनेर मानुष' उपन्यास में लालन के जीवन के माध्यम से किया है।

❑ **पूर्व सहायक प्राध्यापक,** हिंदी

सम्पादक की कलम से....

अखिलेश कुमार तिवारी
हिंदी अधिकारी

साहित्य में समझ के प्रतिबिंब को सदैव देखा जाता है। इसलिए साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। यह समाज में रचनात्मक संचार का माध्यम है। साहित्यिक गतिविधियों से संस्था की जीवंतता का भी पता चलता है। अपने अनुभवों एवं विचारों को सँजोने के लिए लेखन से अच्छा कोई और माध्यम नहीं हो सकता। लेखन किसी भाषा में हो सकता है। परंतु यह स्थापित तथ्य है कि हम अपनी मातृभाषा में अपने विचारों का सम्प्रेषण बेहतर ढंग से कर सकते हैं। मातृभाषा के इसी महत्व को रेखांकित करने के लिए 21 फरवरी को पूरी दुनिया में मातृभाषा दिवस मनाया जाता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में भी कम से कम पाँचवीं तक छात्रों को उनकी मातृभाषा में शिक्षा देने पर ज़ोर दिया गया है। हर व्यक्ति की अपनी मातृभाषा होती है। वहीं, हिंदी पूरे देश में संपर्क भाषा बन गई है। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक हिंदी बोली, समझी एवं पढ़ी जा रही है। जिस प्रकार से हिंदी का विस्तार हो रहा है, वह दिन दूर नहीं जब हिंदी विश्व में सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषा बन जाएगी।

गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर में राजभाषा नीति एवं नियमों का पालन करते हुए कार्यालयीन कार्य किए जा रहे हैं। माननीय कुलपति महोदय प्रो. आलोक कुमार चक्रवाल की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन में यहाँ लगातार साहित्यिक आयोजन किए जा रहे हैं। इस वर्ष फरवरी में मातृभाषा दिवस समारोह, जून में पण्डित माधव राव सप्रे पर व्याख्यान, जुलाई में प्रेमचंद जयंती, अगस्त में परसाई जयंती, सितंबर में भारतेन्दु हरिश्चंद्र जयंती समारोह का आयोजन किया गया। साथ ही 5 से 14 सितम्बर तक राजभाषा पखवाड़ा 2023 का आयोजन किया गया। इसके अंतर्गत विश्वविद्यालय के कर्मचारियों के लिए प्रशासनिक शब्दावली, राजभाषा ज्ञान, तात्कालिक भाषण एवं काव्य पाठ प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। कर्मचारियों के लिए राजभाषा प्रशिक्षण कार्यशाला एवं शिक्षकों एवं छात्रों के लिए काव्य पाठ कार्यक्रम का आयोजन भी राजभाषा पखवाड़ा में किया गया है। इसी कड़ी में गुरु घासीदास विश्वविद्यालय की राजभाषा पत्रिका 'गुरु-दर्शन'के चौथे अंक का प्रकाशन किया जा रहा है। 'गुरु-दर्शन' का यह अंक भी पूर्व की तरह विश्वविद्यालय की रचनाधर्मिता का प्रतिबिम्ब है। इस अंक में आलेख के साथ कविताओं का भी समावेश है।

उम्मीद है कि 'गुरु-दर्शन' का यह अंक भी पहले की तरह आपको पसंद आएगा। आगामी अंक को और बेहतर बनाने के लिए आपके अमूल्य सुझावों का स्वागत रहेगा।

जय हिंदी। जय भारत।

अनुक्रम

आलेख

लाल रेखा 7	-	प्रो. देवेन्द्र
सम्प्रेषण 12	-	प्रो. हरीश कुमार
नव जागरण के समय में स्त्रियाँ 15	-	डॉ. गौरी त्रिपाठी
जुलूस: एक पुनर्पाठ 20	-	डॉ. मुरली मनोहर सिंह
विज्ञान, धर्म व दर्शन 23	-	डॉ. संतोष सिंह ठाकुर
पितृसत्तात्मक समाज का वर्तमान पुरुष 26	-	डॉ. अमिता
नोमोफोबिया 28	-	डॉ. अनुपमा कुमारी
जीवन संवेदना का भाषिक-संस्कार 31	-	डॉ. राजेश मिश्र
आदिवासी समाज में संस्कृति का महत्व 36	-	डॉ. अनीश कुमार
संत नामदेव का दार्शनिक चिंतन 42	-	डॉ.जगदाळे अप्पासाहेब गोरक्ष
मोनेर मानुष 45	-	डॉ. शोभा बिसेन

कविता

प्रसव पीड़ा की सदी 51	-	डॉ. रमेश कुमार गोहे
मैं सफर बन गया 52	-	डॉ. प्रसून सोनी

होगा। गाँववालों को भोजन कराना होगा, जाति को वापस पाने के लिए बहुत खर्च करना होगा। ऐसी जाति की मुझे कोई जरूरत नहीं है, जिसकी जाति ही चली गई हो, वह तुम्हारी संतान कैसे हो सकती है?"7

इस प्रकार समाज में फैले जातिगत व धार्मिक पाखण्ड को उपन्यासकार ने बड़े ही मार्मिक टिप्पणियों द्वारा उजागर किया है।

इसके बाद शुरू होती है लालू की लालन से लालन फकीर (सांई) बनने की जीवन यात्रा और ऐसी जगह की खोज, जहां किसी प्रकार से "जाति-पाति की खींचतान नहीं हो।"8 यहाँ सुनील गंगोपाध्याय ने लालन और कलुआ के माध्यम से एक ऐसा यूटोपियाई समाज सृजा है।

जहाँ मनुष्य की पहचान नाम या जाति से नहीं, बल्कि मनुष्य के तौर पर है। उस समाज में "न कोई हिंदु न कोई मुसलमान, न ख्रिस्तान, बस वहां सब इंसान है। न जात है न धर्म | "9 सभी अपने-अपने काम में लगे रहते हैं और जीविकोपार्जन के साधन जुटाते हैं। बिना किसी ईर्ष्या-द्वेष के समय निकालकर गीत संगीत द्वारा अपना ध्यान मनोरंजन करते हैं। उस समुदाय के काफी लोग गीत गाते हैं किंतु दूसरों के द्वारा रचे हुए। लालन द्वारा गाये गीत स्वतः स्फूर्त होते हैं। जिनमें जीवन का कोई गूढ़ रहस्य छिपा रहता है। जैसे जब लालन गाता है-

"घरेर मोध्ये घर बँधेछेन /मोन मोतो मॅनोहारा/घरेर आठ कुठीर नोंय दरोजा...' इस पर कलुआ कहता है 'यह कैसा घर है? तुम लोग नहीं समझोगे। यह बहुत गम्भीर बाते हैं। १० लालन के गीतों में इतनी सहजता होती है कि जो भी एक बार सुन ले वह गीत की गहराई में खो जाता व सोचने को मजबूर हो जाता है और कहता है "लालन तुमने क्या सुना दिया।' लालन अपने गीतों द्वारा जब कहते हैं कि सब लोके कॅय लालन की जात ससारे/लालन भाबे जातिर की देखलाम न एई नॅजोरे/ (संसार में सभी पूछते हैं कि लालन तेरी जाति क्या है, लालन सोचता जाति तेरा रूप क्या है, कभी तो नजर नहीं आया)। 'केउ माला केउ तोसबि गलाय / ताइतो जाता भिन्न बोलाय / जातेर चिह्नाँ रस का ररे? (कोई माला तो कोई ताबीज पहनता है, इसी से सब उसे अलग- अलग जाति के कहते हैं, जाने और आने के समय कहा रहती है जाति की पहचान) ११

जोदि सुन्नत दिले हॅय मुसलमान / शरीर तबे की हॅय विधा/बामन चिनि पोड़ते प्रमाण / बामुनि चिनि कीसे रे? (अगर सुन्नत कराकर मुसलमान बन गया, पूरे शरीर का फिर क्या विधानर ब्राम्हण की पहचान तो जनेऊ है, ब्राम्हणी की फिर क्या पहचानर) गीतों के माध्यम से लालन का सामाजिक जीवन की कुरूपताओं और जाति विद्रोह उसे कबीर के जातिगत विद्रोह के नजदीक ला खड़ा करता है। अर्थात् यह जातिगत समस्या प्रत्येक समाज में व प्रत्येक काल में मौजूद रही है। इसलिए लालन फकीर जात-पात और हिन्दू-मुसलमान धर्म के बंधन से मुक्त हो, मानव धर्म का रास्ता अपनाते हैं और कहते हैं कि- "यह सच है कि मैं पहले हिन्दू था। अब मुसलमान बना हूँ, क्रिश्चियन भी कह सकते हो। मैं धर्म को मानता हूँ, धर्म के भेदों को नहीं। जाति को मानता हूँ, जाति-भेद को नहीं मेरी अंतरात्मा कहती है-हम सभी मनुष्य है पूजा- नमाज सब छोड़कर केवल मनुष्य को प्रेम करके भी एक सुन्दर जीवन जिया जा सकता है।12

इन सारी बातों को वे अपने गीतों के माध्यम से ही ज्यादा व्यक्त करते थे, जिन्हें सुनकर हरिनाथ भावविह्वल स्वर में कह उठता है- "यह क्या सुनाया तुमने साई? चंडीदास जैसे पट्ट्यकार भी इतने सहज-सरल ढंग से हमारे मन की बात नहीं सुना पाए हैं।13

हरिनाथ ग्रामवार्ता प्रकाशिका' नामक छोटी सी पत्रिका के संपादक व लेखक है जो जमींदार के अत्याचार, गाँव की बिगड़ी हालत इत्यादि समस्याएँ अपनी पत्रिका के माध्यम से सरकार तक पहुँचाने का कार्य करते हैं, जिससे कभी-कभी समाज का भला भी हो जाता है। इसी कारण जब उन्होंने लालन फकीर के इस मानव-धर्मीय समाज व लालन के गीतों की महत्ता सुनी तो उनसे मिलने चले आए। चूँकि कोई भी समाज वैयक्तिक होकर नहीं चल सकता। समाज से देश और देश से संसार स्थापित होता है। चाहे वह संसार वास्तविक हो या साहित्यिक। लूकाच का मानना है कि रचना की दुनिया न केवल वैयक्तिक है और न कोरा भ्रम । साहित्यकार उस वस्तुनिष्ठ संसार का चित्रण करता है जिसमें कलाकार के साथ दूसरे लोग भी साझेदारी करते हैं। अंततोगत्वा यह साझेदारी मानवमात्र के साथ साझेदारी हो जाती है। 14 उपन्यासकार ने लालन फकीर व कलुआ द्वारा स्थापित समाज का गठजोड़ स्थापित किया है। जैसा कि उपन्यास की भूमिका के

मानव धर्म को सर्वोच्च शिखर पर स्थापित करता जादुई उपन्यास है। इस उपन्यास को पढ़ना इतिहास और स्मृति की एक विलक्षण और आदिम देशकाल की यात्रा के समान है। इस यात्रा में पाठक लालन फकीर के

सौम्य किंतु क्रांतिकारी व्यक्तित्व से रु-ब-रु होता है। इसमें 19वीं शताब्दी के बंगाल का सामाजिक इतिहास भी अपनी तमाम सुंदरता तथा कुरूपता के साथ उसके सामने प्रकट होता है। धर्म, जाति, स्त्री इत्यादि सब इसके दायरे में आ गए हैं। 1

उपन्यास में प्रारम्भ से ही लालन फकीर की ऐसी छवि गढ़ी हुई है जिसके सम्मोहन में पाठक फंसता जाता है। एक ऐसे युवक के रूप में लालन का स्वरूप चित्रित है जिसकी किसी से किसी प्रकार की दोस्ती दुश्मनी नहीं है। वह अपने में ही खोया रहता है और अपने लिए चाहे परिवार के लिए कुछ न करे किंतु विपत्तिकाल में दूसरों की मदद करने के लिए सदैव तैयार रहता है। इसलिए सारे गाँव के लोग उसे प्यार करते हैं। फुलु ठकुरानी जिसे लालू ने पिछले साल ही बाढ़ में बचाया था वह तो यहाँ तक कहती है कि "लालू ही उसकी असली संतान है, पिछले जन्म में वह उसके गर्भ से ही पैदा हुआ था।"2 यहाँ लेखक ने भारतीय लोक संस्कृति (लोक) में प्रचलित उस मान्यता को प्रस्तुत किया है जिसमे जन्म जन्मांतर तक मनुष्य की चौरासी योनी की कल्पना की जाती है।

उपन्यास में लालन की असली यात्रा शुरू होती है गंगा स्नान के लिए बरहमपुर की यात्रा के दौरान जब उसे चेचक हो जाता है और उसके साथ के लोग उसे मृत समझकर उसकी मृत्यु निश्चित जानकर उसे मुखाग्नि देकर केले के थम्ब के बेड़े पर गंगा में प्रवाहित कर देते हैं। संयोग से राबिया नामक मुसलमान स्त्री की नजर उस पर पड़ती है और उसकी सेवा सुश्रुआ से लालू ठीक हो जाता है। इस दौरान उसकी याददाश्त खो जाती है किंतु उसे एक नया जीवन मिल जाता है। लालू को मृत समझ गंगा में बहाया जाना फिर उसका जीवित होना यहां प्रतीक रूप में भी माना जा सकता है। यदि लेखक के ही अगले पिछले जन्म वाली शब्दावली में कहें तो लालू का नया जीवन मुसलमान घर में शुरू होता है जहाँ सिराज सांई के सम्पर्क में आकर उसे बाहर की दुनिया की जानकारी प्राप्त होती है कि "देश में टोपीवाले सफेद चमड़े के मालिकों का राज है। मुगलों और पठानों का राज समाप्त हो चुका है।"3 और जिनका राज अभी यहां (भारत में) हैं उसका नाम है- विलायत यहाँ राजा के राजा का नाम है- यीशु जैसे हिंदु धर्म के राजा (भगवान) ईश्वर व मुसलमानों के पैगम्बर (अल्लाह) है। इसके अलावा लालू को जो नया ज्ञान प्रप्त हुआ- जीवन दर्शन का ज्ञान, जिसके लिए जरूरी है अपनी खोज मैं कौन हूं ? इसकी खोज यानी अपने अस्तित्व की खोज। इसके लिए सिराज सांई ने लालू को एक मंत्र (बाल) कहा कि "कभी भी किसी के साथ बहस मत करना। कोई फायदा नहीं होगा ज्यादातर लोगों ने कुतर्कों की

दुकान लगा रखी है। "4 इसलिए प्रत्येक मनुष्य को अपने विश्वास के साथ रहने दो, कहीं हस्तक्षेप मत करो। चूँकि पाप-पुण्य की परिभाषा प्रत्येक देश में अलग-अलग होती है। "तिब्बत में जिस आचरण को पुण्य माना जाता है वही हमारे यहाँ पाप है... तिब्बत देश में एक स्त्री के कई पति होते हैं। यह बात यहां हो तो व्यभिचार कहेंगे। उस औरत को पीट-पीटकर मार डाला जाएगा; जबकि सभी इंसान ही हैं।"5 सिराज साई से इंसानियत व मानव धर्म की सीख लेने के बाद लालन का भ्रम वहां टूटता है जब उसकी याददाश्त वापस आने पर वह घर लौटता है। लालन के मुसलमान औरत के घर खाना खाने, वहां कुछ दिनों तक रहने और एक मुसलमान औरत को माँ कहने की वजह से न सिर्फ समाज द्वारा बल्कि उसकी स्वयं की माँ द्वारा भी अछूतों जैसा बर्ताव किया जाता है।

धर्म व जाति का कर्मकाण्डी रूप इंसान को कितना आमानवीय और क्रूर बना देता है इसका उदाहरण यहां देखा जा सकता है। बारीश का छींटा आने पर लालू द्वारा घर में जाने की बात पर पद्मावती (माँ) का यह कहना नहीं रे घर के भीतर भी तो जा नहीं सकते। घर में राधाकृष्ण लक्ष्मी जनार्दन है और लालू द्वारा यह कहना कि 'भगवान की तस्वीर और सॉरा (मिट्टी के ढक्कन पर बनी देवता की तस्वीर) वे सब बाहर लाकर नहीं रखे जा सकते? इस बात पर पद्मावती का कहना कि-'छी-छी बेटा, ऐसी बातें नहीं करते। ठाकुर देवताओं को भी नहीं हटाया जाता है। 6 अपने इकलौटे बेटे से भी बढ़कर अपने धर्म से चिपके रहने की छटपटाहट, धर्म के विद्रूप स्वरूप को उजागर करता है। पद्मावती द्वारा जाति वापसी हेतु लालन का प्रायश्चित करवाने और दान-भोज के नाम पर होने वाला धार्मिक पाखण्ड लालन को स्वीकार्य नहीं होता और वह इस व्यवस्था का विरोध करता है- "मेरे प्रायश्चित करने से ही नहीं होने वाला, पुरोहित को रुपया भी देना

डॉ. देवेन्द्र

लाल रेखा

बचपन में जिन लेखकों की किताबों ने हममें किताबें पढ़ने और फिर पढ़ी गयी किताबों पर बातें करने का व्यसन पैदा किया, उनमें सबसे ज्यादा महत्व कुशवाहाकांत के उपन्यास 'लालरेखा' का है। 'लालरेखा' कुशवाहाकांत की संभवतः सबसे ज्यादा बिकने और पढ़ी जाने वाली किताब थी। अंग्रेजों से आजादी की लड़ाई की एक प्रमुख और महत्वपूर्ण धारा उन क्रान्तिकारियों की थी, जिसके शीर्ष पर चन्द्रशेखर आजाद थे। भगत सिंह से पहले तक जो सामाजिक चेतना की तुलना में क्रान्ति के लिए शौर्य और साहस को ही महत्वपूर्ण मानते चले आ रहे थे।

1857 का प्रथम स्वाधीनता संग्राम शौर्य और साहस की अनेक किंवदन्तियों से मिलजुल कर एक विराट मिथक के रूप में इन क्रान्तिकारियों को अजस्र प्रेरणा प्रदान करता था। अंग्रेजों ने यहां आकर कितने राजनीतिक और सामाजिक सुधार किए? रेल की लाइनें बिछाई। नहरों का जाल फैलाया। जिले स्तर पर न्यायपालिकाएं स्थापित कीं। प्रति वर्ष अंग्रेज भारत से लूटकर कितना माल अपने देश ले जाते थे? अर्थशास्त्रियों, इतिहासकारों और समाज सुधारकों की इन बकवासी बहसों को दर किनार कर क्रान्तिकारी लोग अंग्रेजी सत्ता को सिर्फ गुलामी के अपमानजनक कलंक की तरह देखते थे। आजादी उनके लेखे सिर्फ आर्थिक संपन्नता का मामला नहीं थी। यह उनके स्वाभिमान का मामला था। वे इसी रूप में 1857 को देखते थे। झांसी की रानी और तात्या टोपे को देखते थे। राणा प्रताप और शिवाजी की कहानियों से वे विशाल सत्ता से अनवरत टकराते रहने की प्रेरणा पाते थे। अंग्रेजों के क्रूर दमन से निरंतर जूझते-लड़ते इन क्रान्तिकारियों के भीतर आजादी के लिए मर मिटने की भावना रूमानी आवेग पैदा करती थी। कुशवाहाकांत की किताब 'लालरेखा' उसी क्रान्तिकारी धारा की बेहद रोचक और रोमांचकारी फैण्टेसी है।

'लालरेखा' का समूचा कथा विन्यास अद्भुत कल्पनाशीलता का सहारा लेकर क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद की भावनाओं पर तो बुना ही

गया है, साथ ही इस उपन्यास में उस दौर के दूसरे महत्वपूर्ण उपन्यासकार गुलशन नन्दा, रानू, प्रेम बाजपेई के गलदश्रु भावुकता भरे लिजलिजे प्रेमी की रुदन भरी उदासी के उबाऊ दुहराव भी नहीं हैं। उस दौर में लिखे जाने वाले इब्ने सफी बी.ए. और कर्नल रंजीत के जासूसी उपन्यासों से ज्यादा रोमांचक कारनामे कुशवाहाकांत के इस उपन्यास में जगह-जगह गूंथे गए थे जिन्हें देखकर जासूसों के जासूस भी दांतों तले उंगली दबा लें। तमाम सारे जासूसी उपन्यासों से ज्यादा प्रभावशाली समर्थ और सक्षम रहस्यमयता और रोमांच से कुशवाहाकांत का उपन्यास 'लालरेखा' भरा पड़ा है।

जिन व्हीलर्स की दुकानों पर कभी कुशवाहाकांत के उपन्यास भरे होते थे आज वहां उनके निशान भी मिट चुके हैं। आज से लगभग पैंतीस-चालीस साल पहले ननिहाल जाते हुए मऊ बस अड्डे पर मैंने 'लालरेखा' खरीदी थी। यूं ही नहीं। कहीं कुछ बड़े लोगों की बातचीत में मैंने इस उपन्यास के बारे में सुन रखा था। किताब खरीदने के बाद वहीं बस अड्डे पर, कुछ देर तक बस की प्रतीक्षा करते हुए और शेष बस का सफर करते हुए, लगभग एक सांस में मैंने यह किताब पढ़ डाली थी। सोते हुए पूरी रात मुझे सपने में इसी उपन्यास के दृश्य दिखाई देते रहे। मेरे किशोर मन पर पहली बार किसी किताब का इतना मार्मिक और गहरा असर पड़ा था।

फिर तो उपन्यासों को पढ़ने का व्यसन धीरे-धीरे इस कदर बढ़ता गया कि कोर्स की पढ़ाई एक ओर धरी की धरी रह गयी। हमारे कस्बे में ऐसी किताबों की कोई दुकान न थी। एक से दूसरे हाथ घूमती, या फिर रिश्तेदारी में आए पढ़े-लिखे फैशनेबुल लोगों के पास से हम इन किताबों को बीच में ही झटक लेते थे। और फिर चोरी-चोरी पढ़ जाते थे। घर के बड़े-बुजुर्गों की नजर में ये किताबें आवारगी की पहली पगडंडी थीं। जैसे ताश खेलना। जैसे सिनेमा देखना। जैसे छुप-छुप कर बीड़ी पीना।

कुशवाहाकांत के उपन्यास हम खोज-खोज कर पढ़ते थे। मुझे नाम तो याद नहीं है। उनके किसी उपन्यास में रिक्शा खींचने वाले का चरित्र था। वह बनारस की गलियों का मशहूर छुरेबाज था। एक छुरेबाज के रूप में लोग उसके नाम से कांपते थे। लेकिन उसे पहचानते कम ही लोग थे। लोग अक्सर उसे मामूली रिक्शावाला समझ कर उसके साथ अपमान जनक व्यवहार करते। यहीं उसके छुरेबाजी का हुनर उसके श्रम को स्वाभिमान और गरिमा प्रदान करता था। जब मैंने बाद में प्रसाद जी की गुण्डा कहानी पढ़ी तो बनारस के परिवेश में कुशवाहाकांत का वह चरित्र बार-बार याद आता। दबंग और स्वाभिमानी।

सुभाषचन्द्र बोस के जीवन को आधार बनाकर भी कुशवाहाकांत ने 'क्रान्तिकारी सुभाष' नाम से जो गल्प लिखा उसमें उनके शौर्य और साहस को तो उचित ही महत्व दिया गया था, लेकिन साथ ही सुभाषचन्द्र बोस के जीवित होने की किंवदन्ती को अवैज्ञानिक, असंभव ढंग से प्रस्तुत किया गया था। यह संभवतः कुशवाहाकांत की सबसे कमजोर कृति थी। शौर्य या श्रृंगार की असंभव कल्पनाएं न रोमांच का सुख देती हैं न चमत्कार का कौतूहल। उनमें सिर्फ भाषा का भट्ठा कण्ठ फुसफुसा कर रह जाता है। निश्चित तौर पर 'लालरेखा' ही उनका सबसे बेहतर प्रभावशाली, बिकने और पढ़ा जाने वाला उपन्यास था, जिसमें व्यक्तिवादी विद्रोह के शौर्य और साहस का सौन्दर्य चरम कल्पनाशीलता के माध्यम से अभिव्यक्ति पाता है। 'रेखा' का चरित्र उस क्रान्तिकारी धारा के बीच स्त्री-पुरुष की गैर बराबरी को मिटाकर समानता का मिथकीय मानक प्रस्तुत करता है।

'लालरेखा' उपन्यास में लालचन्द एक क्रान्तिकारी नवयुवक है। बाकायदा क्रान्तिकारी दल का महत्वपूर्ण सदस्य। नगर का पुलस अधीक्षक शर्मा पूरी तरह अंग्रेज परस्त है। अंग्रेजों के प्रति अपनी वफादारी प्रमाणिक करने के लिए वह रात-दिन हाथ धोकर क्रान्तिकारी गतिविधियों के पीछे पड़ा रहता है। लोग उसे अंग्रेजों का कुत्ता और चाटुकार अधिकारी मानते हैं। शर्मा को अपनी इस छवि से गुरेज नहीं है। क्रान्तिकारी दल के लोग कई बार उस पर असफल जानलेवा हमला कर चुके हैं। रेखा उसी शर्मा की इकलौती बेटी है। स्निग्ध सौन्दर्य और शोख चंचल स्वभाव वाली रेखा पड़ोस में रहने वाले लालचन्द के यहां अवसर-अनवसर हर समय उपस्थित रहा करती है। क्रान्तिकारी लालचन्द की रहस्यमय गतिविधियों के लिए जो मुनासिब एकान्त चाहिए उसे वह किसी से मतलब न रखकर चुपचाप पढ़ाई करने वाले छात्र की छवि से

डॉ. शोभा बिसेन

मोनेर मानुष

'उपन्यास ऐसी कला है जिसमें मनुष्य सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से निरूपित होकर सामने आता है।' मिशेल जेराफ के इस कथन का आशय यह है कि जिसे हम मनुष्य' कहते हैं। मूलतः तो वह व्यक्ति समूहों की मनो-सामाजिक तथा रूप-क्रियागत आधारों पर बनने वाली सार्वभौम सामान्यीकृत पहचान को संज्ञापित करने वाला एक प्रत्यय मात्र है जिसका समयानुसार निरूपण स्वाभाविक तौर पर होता चलता है। किंतु यही मनुष्य जब किसी उन्यास में सामाजिक, ऐतिहासिक दृष्टि से निरुपित होकर सामने आता है तो वह ठीक वैसा ही नहीं रह जाता जैसा कि वह अपने वास्तव के ठेठ दायरों में होता है। लेखक के आग्रह, अनुभव और दृष्टि के योग से निर्मित होने के कारण उपन्यास का यह मनुष्य अपनी वास्तविक जीवन की झलक लिए होकर भी वस्तुतः स्वयं लेखक के दृष्टिकोण को रूपायित करने के उद्देश्य से गढ़ा गया चरित नायक ही होता है।

भारतीय साहित्य में खासकर हिंदी, बांग्ला, मराठी इत्यादि में पिछले कुछ दशकों में उपन्यास लेखन का कार्य बहुतायत में हुआ है, जिसमें कथ्य के साथ -साथ ट्रीटमेंट और फार्म के स्तर पर भी उपन्यासों ने लंबी दूरी तय की है। खास बात यह कि इन भाषाओं के उपन्यासों के अनुवाद ने भारतीय उपन्यास परिदृश्य में सार्थक योगदान दिया है। साथ ही हिंदी उपन्यास परिदृश्य में भी विशेष योगदान दिया है। प्रसिद्ध बांग्ला साहित्यकार सुनील गंगोपाध्याय के उपन्यास 'मोनेर मानुष' का हिंदी अनुवाद भी इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

'मोनेर मानुष' -3 -अर्थात किसी भी मनुष्य के अन्तर्मन में साक्षीभाव से संस्थित मनुष्य । यह उदात्त अर्थ खुलता है साईं, फ़कीर और बाऊल कहकर याद किए जाने वाले 'लालन' की जीवनगाथा में। इसमें लालन के उस जीवन का वर्णन है जहां वह एक सामान्य मनुष्य से फकीर बनने तक की यात्रा तय करता है। यह उपन्यास केवल लालन फकीर की जीवनी मात्र ही नहीं है, बल्कि यह " तमाम धर्मों की मान्यताओं को छिन्न-भिन्न करते हुए

सकल जनम मोकउ गुरु कीना । दुख बिसारि सुख अंतरि लीना ॥

गिआन अंजनु मोकउ गुरु बिना । राम नामु बिन जीवन हीना मन होना ॥9

संत नामदेव ने उत्तर भारत की यात्रा गुरु की कृपा से अन्तर्मन में एकरूप होकर सार्थकता प्राप्त की थी । इस तरह के अन्तर्मन से एकरूप होकर गुरुनानकदेव उदासियों में गुरु की महिमा का गुणगान गाते हैं ।

ओंकार सतिनाम करता पूरक ।
निरभऊ निरवैऊ मूर्ति कलातीत । ।10
गुरुनानकदेव ने सत को गुरु के सामान माना था ।
देखा तब गावात जन धीरज पादानादि सटी देवा ॥
मिली मिली दिसता हसता जोति जोति समानी में गुरु परसादी जानी ॥
रतन कमल कोठरी चमत्कार बिरही ।
मेरे नाही दूरी निज आता भरपूरे ॥
जह अनहद सूर उजारा । तह दीपक जले ॥
गुरुप्रसादी जानि आ । जिनु मामा सहज समानि ॥11

उक्त पद में संत नामदेव को सदगुरु का आशीर्वाद मिला था जिसे संत नामदेव ने अपने समकालीन अन्य संतो को प्रसाद के रूप में बांट दिया था । उन संतों में संत चोखामेला, जाल्हांण तथा जनाबाई आदि का जीवन सामाजिक रूढ़ि में बंधा हुआ था परंतु संत नामदेव के शिष्यत्व प्राप्त होकर उनका उद्धार किया था । संत जनाबाई ने गुरु भक्ति का रंग काव्य में सतत व्यक्त किया है ।
जिव्हा लागली नामस्मरणी । रित्या माप भरी गोणी ॥
नित्य नेमाची लाखोली । गुरु आज्ञेने मी पाली ॥
मज भरोसा नामाचा । गजर नामाच्या दासीचा ॥
विटेवरी ब्रह्म दिसे । जनी त्याला पाहातसे ॥12

संत जनाबाई एवं चोखामेला ने अपनी वाणी से गुरु नामदेव का महिमा को नाम से गौरन्वित किया है । इसलिए संत जनाबाई संत नामदेव की दासी के रूप भली जानी जाती है परन्तु उनकी वाणी आमजन का कंठहार बन गई । संत चोखोमेला को गुरु के पास सेवारत होने का स्थान प्राप्त हुआ ।

निष्कर्ष : संत नामदेव ने विट्ठल के सगुन भक्ति से बीज प्रविष्ट हुआ था । संत नामदेव का भक्तिमय जीवन और साहित्यिक तौर पर परिवर्तन गुरु के आशीष मिलने से हो गया था । इसके लिए संत नामदेव की संत मण्डली द्वारा संत्वत की सच्ची पहचान का अभास संतकवियित्रि मुक्ताबाई ने करवायी थी । इसलिए संत मुक्ताबाई का संत नामदेव के जीवन को एक नयी दिशा मिल जाती है । जिससे संत नामदेव की ख्याति सिर्फ महाराष्ट्र तक सिमित न होकर भारतीय संत के रूप में प्राप्त होती है । इसका श्रेय नाथपंथ के ज्ञानदेव , निवृत्तिनाथ, सोपानदेव तथा मुक्ताबाई आदि का प्रभाव सूर्य के प्रकाश के समान जीवन पर रहां है । इससे ज्ञात होता है कि संत साहित्य में संत व ज्ञान तथा भक्ति एकरस होने के साथ मानवी मूल्य आबादित रह गए । संतों की गुरु-शिष्य परम्परा से वर्तमान समाज में एक भावबोध की प्रेरणा देती हैं ।

संदर्भ ग्रन्थ :

1. सं (महाराष्ट्र राज्य साहित्य –संस्कृति मंडल,मुंबई) सकल संत नामदेवगाथा,अभंग संख्या.सं. 1233,पृ.552
2. रिंगण, संत वीसोबा खेचर (विशेषांक) अगस्त, 2017 पृ 74
3. डॉ.मंगला सासवड़े- श्रीनामदेवदर्शन पृ.4
4. डॉ. मिश्र, रामचंद्र ,संत नामदेव और हिंदी पद साहित्य, पृ.2
5. डॉ. सासवड़े, मंगला- श्रीनामदेवदर्शन पृ.4
4. डॉ. मिश्र, रामचंद्र -संत नामदेव और हिंदी पद साहित्य, पृ.2
5. (महाराष्ट्र राज्य साहित्य –संस्कृति मंडल,मुंबई) सकल संत नामदेवगाथा,अभंग संख्या.सं. 1354 ,पृ.562
6. सं. परब ,सचिन , गायकवाड़ , श्रीरंग –महानामा . पृ . 130
7. वही पृ.170
10. सिंह जगजीत –सरल गुरु ग्रन्थ साहिब एवं सिख धर्म,पृ.130
11. सं. परब ,सचिन , गायकवाड़ , श्रीरंग –महानामा . पृ . 130
12. सं. डॉ. इमानदार, हेमंत विष्णू –संत नामदेव काव्यसंभार आणि संत परिवार पृ.118

❑ **पूर्व सहायक प्राध्यापक,** हिंदी

मयस्सर करना चाहता है । बातूनी और शरारती रेखा गाहे-ब-गाहे अपनी उपस्थिति से लालचन्द के रहस्यमय एकान्त को तार-कार करती रहती है ।

लालचन्द क्रान्तिकारी अवधारणाओं के अनुसार स्त्री रेखा से दूरी बनाए रखना चाहता है । दूसरे, वह शत्रु की बेटी भी है । लेकिन रेखा की उपस्थिति उसके आस-पास के समूचे वातावरण में घुलती और गहराती जाती है । दरअसल, रेखा लालचन्द से प्यार करती है । शायद लालचन्द भी । हालांकि उस दौर में, जहां क्रान्ति की अवधारणा ब्रह्मचर्य, त्याग, शौर्य और साहस के ताने-बाने से बुनी होती थी, वहां प्यार की कोमल नैसर्गिक भावनाओं के लिए आलिंगन या चुम्बन के दृश्य पूर्णतः वर्जित थे । उस क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद में ऐसे प्रेम की गुंजाइश कहीं नहीं होती । चन्द्रशेखर आजाद के समय तक प्रेम पथ भ्रष्ट होने की शुरुआत माना जाता था । ऐसे में लालरेखा का प्रेम मुंहलगी छोटी बहन की शरारतों के शिल्प में उभरता है । पूरी तरह 'प्लेटोनिक ।' देह की सत्ता से परे । इतना पवित्र कि किसी किस्म का स्पर्श सुख उसे मैला बना सकता है । वह सिर्फ भाई-बहन के बीच की शरारतों और ममत्व भरी आत्मीयता के नाना शिल्प में झिलमिलाता रहता है । उपन्यास में लालरेखा का प्रेम अन्त तक ऐसे ही धड़कता रहता है ।

लालचन्द को किसी गुप्त मिशन का निर्देश देने के लिए क्रान्तिदल का सरदार रहस्यमय छाया की तरह आता रहता । वह हर बार वेश बदल लेता है । क्रान्तिदल का कोई सदस्य उसे पहचानता नहीं है । उसका नाम क्या है? वह कहां का रहने वाला है? वह और क्या करता है? वह अंग्रेजों का दुश्मन तो है लेकिन देश, दुनिया और समाज के बारे में क्या सोचता है? दल के किसी सदस्य को उसके बारे में कुछ नहीं मालूम । सिवा यह कि सरदार अन्यायपूर्ण सत्ता को पल-पल चुनौती देने वाला अक्षय शक्ति का प्रतीक है । दल के सदस्यों से मिलते समय सरदार अपनी दायीं आंख के थोड़ा ऊपर हाथ की उंगली से अपना माथा खुजलाता है । इसी संकेत से दल के सदस्य उसे पहचानते और निर्देश प्राप्त करते हैं । बचपन में चेचक की वजह से चन्द्रशेखर आजाद की आंख के ऊपर माथे पर गड्ढा नुमा छोटा सा दाग था । चन्द्रशेखर आजाद की जीवनी में मैंने ऐसा कहीं पढ़ा है कि बचपन में उनकी मां उनके उस दाग को अक्सर सहलाया करती थीं । सरदार लालचन्द को बार-बार इस बात की हिदायत देता कि शत्रु की बेटी का हर समय तुम्हारे घर में बना रहना अच्छा नहीं है । लेकिन रेखा मानती ही नहीं । वह तो उल्टे सरदार को लेकर भी लाल से चुहल करती । जब भी सरदार आता रेखा लालचन्द को उसका एकान्त सौंपकर घर के बाहर चली जाती । एक दिन तो वह हद ही कर देती है, जब सरदार लालचन्द से मिलने आता है । घर से बाहर निकलते हुए रेखा सरदार को देखकर स्निग्ध शरारतों के साथ उसकी आंखों में आंखें डालकर अपनी आंख के ऊपर माथे के पास खुजलाते हुए बाहर निकल जाती है । सरदार, जिसके रहस्य को पुलिस के आला अधिकारी और बड़े-बड़े जासूस छू नहीं सके थे, उसका गुप्त और खास संकेत रेखा की पकड़ में आ चुका था । सरदार भौचक । लालचन्द रेखा की ऐसी हरकतों से चिढ़ जाता । लेकिन वह थी ही ऐसी शरारती जिसके सामने किसी किस्म का क्रोध, कठोरता या अनुशासन ज्यादा देर टिक नहीं पाता ।

हंसोड़, गप्पी और आकर्षक व्यक्तित्व वाली रेखा क्रान्तिकारियों की रहस्यमय जीवन पद्धति और कठोर अनुशासन की गुरुता को भंग करते हुए सहज और सरल जीवन का स्वच्छन्द संगीत रचती है । इसी तरह रहते हुए अवैध और अनाहूत ढंग से वह क्रान्तिकारी गतिविधियों में हिस्सा भी लेने लगती है । कई बार रात अंधेरे में लालचन्द अपने गुप्त मिशन पर जाते हुए उस समय ऐन मौके पर रेखा को अपने करीब पाता है, जब वह पुलिस के हाथों पकड़े जाने को होता है । रेखा उसे बचा लेती है । एक दिन लालचन्द मारा जाता है और उसी के साथ रेखा पकड़ी जाती है । जाहिर है इस घटना की वजह से एस.पी. शर्मा की बहुत बेइज्जती होती है । अंग्रेजों की नजर में उनकी विश्वसनीयता पर सवाल उठ रहे होंगे, यह सोचकर वह सकपका गये थे । पुलिस सुपरिटेन्डेन्ट शर्मा अपनी स्वामिभक्त प्रमाणित करने के लिए रेखा को दी गई सजा में 'गोली मारने का आदेश' खुद अपने प्रयास से स्वयं पा लेते हैं ।

क्रान्तिदल का सरदार, जिसकी रहस्यमयी छाया को पुलिस के आला अधिकारी, सरकारी जासूस या खुद उसके दल का कोई

सदस्य छू तक नहीं सका था, अब वह रेखा की बहादुरी के समक्ष श्रद्धावनत नजर आता है। शताब्दियों से संचित क्रान्तिकारियों की स्त्री सम्बन्धी अवधारणा यहां तक आते-आते टूट बिखर जाती है। जब आप एक बड़े उद्देश्य को चुनते और उसकी ओर बढ़ते हैं तो ढेर सारे छोटे-छोटे प्रश्न अपने आप सुलझते चले जाते हैं। पूरे उपन्यास में रेखा स्त्री स्वतन्त्रता या समानता के प्रश्नों पर ऐय्याशी भरी बौद्धिक जुगाली कहीं नहीं करती है। सजा के घटनाक्रम तक आते-आते वह पूरे उपन्यास के कथानक पर छा जाती है। किसी स्त्री चरित्र का इतना प्रभावशाली चित्रण किसी साहित्यिक-गैरसाहित्यिक कृति में उस उपन्यास से पहले या फिर उसके बाद देखने को मिला हो, मुझे याद नहीं। जाहिर है यह कहते हुए मुझे प्रसाद जी की ध्रुव स्वामिनी, कामायनी की इड़ा, गोदान की मालती, गणदेवता की दुर्गा, शरतचन्द्र की पारो और यशपाल के ढेर सारे स्त्री चरित्र एक साथ याद आ रहे हैं। आज से लगभग चालीस साल पहले पढ़े गए उपन्यास 'लालरेखा' पर लिखते हुए मैं याद करता हूं कि कैसे कथानक के इस बिन्दु तक आते-आते पाठक की सांस थम सी जाती है।

शहर के बड़े मैदान में खुलेआम क्रान्तिकारी रेखा को अंग्रेजों के वफादार पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट और पिता शर्मा के हाथों गोली मारा जाना है। जहां तक मुझे याद है, गोली मारे जाने से पहले उस खूबसूरत और चंचल लड़की रेखा की बातूनी, शरारती आंखों में जलती सलाखों से सुराख कर दिया जाता है। उस दौर में स्त्री सौन्दर्य नितम्बों या कुचों के उभार में नहीं, आंखों की स्निग्ध वाचालता में ही मोहक होता था। जनता की भीड़ मैदान के चारों तरफ दूर-दूर तक फैली है। लोग अंग्रेजों के चाटुकार एस.पी. शर्मा की बहादुर बेटी को देखने आये हैं। वह सबकी हीरो हैं। रेखा भीड़ से घिरे मैदान के एकान्त में कुछ क्षण के लिए अपने पिता से मिलना चाहती है। शायद मृत्युदण्ड से पहले मुल्जिम की आखिरी इच्छा पूरी करने की किंवदन्ती के अनुसार। वहीं रेखा अपनी चिर-परिचित वत्सल और अल्हड़ चंचलता के साथ पिता से पूछती है- "पापा, अब आपका सिर नहीं खुजलाता?" शुरू से आखिर तक पूरे उपन्यास पर छाये रहस्य का अचानक एक साथ पटाक्षेप होता है।

उपन्यास में मौजूद कोई नहीं, सिर्फ पाठक यह जान पाता है कि क्रान्तिकारियों का सरदार और कोई नहीं एस.पी. शर्मा ही है। एस.पी. शर्मा का दो अलग-अलग और एक-दूसरे का पूर्णतः विरोधी व्यक्तित्व। दिन के क्रूर, कठोर और दमनकारी उजाले पर रात का पारदर्शी रहस्य आत्मीय छांव बनकर छा जाता है। रहस्य खुलते ही दुःखान्त के चरम पर उम्मीद की किरणें फूटने लगती हैं।

कुशवाहाकांत जिस श्रेणी के उपन्यासकार थे उस तरह के उपन्यासकारों के जीवन के बारे में न तो हमें कहीं पढ़ाया जाता है और न हम जान पाते हैं। सस्ते मनोरंजन के लिए लिखे गए व्यावसायिक और बाजारू कहे जाने वाले इन उपन्यासों के किसी साहित्यिक और सामाजिक सरोकार की कभी पड़ताल नहीं की जाती है। इन उपन्यासों के माध्यम से सामाजिक या राजनीतिक यथार्थ को समझने के लिए किसी आलोचक ने आलोचनाएं भी नहीं लिखी हैं, न ही ये किताबें अपनी ख्याति के लिए किसी आलोचक की मुंहताज होती हैं। अपने वजूद के बल पर ये बाजार में टिकी होती हैं। पाठकों की अदालत में निरस्त तो निरस्त। 'लालरेखा' के छोटे-छोटे वाक्य। क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद का साहस भरा आख्यान। घटनाक्रमों में अविराम गतिमयता। क्रान्तिदल के सरदार की गाहे-ब-गाहे उभरती रहस्यमयी छायाकृति और सबसे बड़ा खिलन्दड़ी रेखा के स्निग्ध चंचल संवाद। इन सबसे रचा बसा यह उपन्यास उस दौर में लिखे जाने वाले गुलशन नन्दा, रानू या प्रेम बाजपेई के उपन्यासों से सघन प्रभाव छोड़ता है।

इण्टरमीडिएट तक कुल छः-सात वर्षों में हमने सैकड़ों के आस-पास उपन्यास पढ़े होंगे। आज उनमें शायद ही किसी के बारे में कुछ याद हो। मैं नहीं कह सकता कि कुशवाहाकांत आजादी के पहले या बाद के दौर के उपन्यासकार हैं। लेकिन तब हमें किसी ने बताया था कि अंग्रेजी राज में 'लालरेखा' पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। आज मुझे उनके समय और इस सच्चाई को लेकर संदेह है। अनुमान यही है कि शायद यह आजादी के बाद की रचना है। इस बात से कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में हमारे साथ पढ़ने वाले मुन्नालाल वर्मा की कोई रिश्तेदारी कुशवाहाकांत के यहां थी। उसी ने बताया था कि होली के दिन किसी परकीया प्रसंग में किसी ने छुरा मारकर उनकी हत्या कर दी थी। इससे ज्यादा मैं उनके बारे में कुछ नहीं जानता।

के बीड जिले के 'औढया नागनाथ' के मंदिर में वीसोबा खेचर को गुरु आशीवार्द मिलने से उन्हें संतत्व प्राप्त हुआ । उसके बाद संत नामदेव महाराज महाराष्ट्र को उत्तर भारत में एक अलग विशेष पहचान मिली ।

संत नामदेव को गुरु ज्ञान न मिलने से कृतज्ञ थे और उन्हें संत वीसोबा खेचर नामक गुरु को सगुण भक्ति से निगुर्ण निराकार ब्रह्म का दर्शन होता है । जिससे ब्रह्म का स्वरूप पाषाण, पिंड, ब्रह्मड, जल, स्थल आदि में व्याप्त दिखाई देता है। उसको संत नामदेव ने अभंग में व्यक्त किया है ।

डोळियाचे डोळे उघडीले जेणे । आनंदाचे लेणे लेवविले ।2

संत सभा की मण्डली में संत मुक्ताबाई द्वारा संत नामदेव के संतत्व के आत्मपरीक्षण से आपमानित होना पड़ा था और उससे गुरु ज्ञान का बोध होकर संत नामदेव भारत भर यात्रा के निकल पड़े थे । यदापि संत मुक्ताबाई ने संत नामदेव के संतत्व का आत्मपरीक्षण नहीं कराया होता तो उन्हें क्या यात्रा करने की प्रेरणा मिल पाती ! यह तथ्य संत नामदेव का जीवन को बदलनेवाला प्रतित होता है ।

मुक्ताबाईने तेथे माजविली कली ।
हे संत मंडली कपटी तुझी ॥
लहानशी मुक्ताबाई जैसी सणकाण्डी ।
केले देशोधडी महान संतः ॥3

संत नामदेव का मानना था कि मुझे केशव की प्राप्ति हुई और सब सुख मिला है। इसलिए गुरु की आवश्यकता प्रतित नहीं होती है! इस पर विट्ठल संत नामदेव को आग्रह करते हुए कहते हैं कि नामा तुम वीसोबा खेचर के पास जाकर उन्हें गुरु बना लीजिए ।

जाई नाम्या जाई गुरुसी शरण ।
तूटे भवबन्धन तुझे वेंगी ॥
नामा म्हणे देवा कवणा शरण जाऊ ।
कोणा ममी होऊ शरणागत ॥4

विट्ठल ने संत नामदेव को गुरु की शरण में जाने का उपदेश दिया था। उस आज्ञा का पालन संत नामदेव ने यथावत किया था । क्योंकि आध्यात्मिकता क्षेत्र में शिष्य को गुरु आशीवार्द के बिना मुक्ति मिल पाना असंभव होती है। उसको उद्घाटित करनेवाला अभंग है-

देव म्हणे नाम्या गुरुवाचूनिया । मुक्ति पावावया ॥
देव म्हणे नाम्या वीसोबा खेचरासी । शरण तयासी जाये देगी ।5

संत नामदेव को गुरु का अनुग्रह प्राप्त होने से उनमें आत्मानंद के समान प्रकाश पल्लवित हुआ । उस आत्मानंद का वर्णन कबीर ने कराकर गुरु की बात कहीं है -"वास्तव में गुरु की कृपा से भक्ति-साधना करते समय प्रेम का रहस्य केवल जयदेव एवं नामदेव ही जान सके थे ।"6 संत नामदेव का अहंकार संत मुक्ताबाई ने दूर किया था और उन्हें गुरु के रूप में वीसोबा खेचर का आशीर्वाद प्राप्त हुआ था। जिससे संत नामदेव के जीवन में प्रकाश प्रज्वलित होकर उससे समाज प्रकाशित होता रहा है ।

संत नामदेव के जीवन में संत वीसोबा खेचर का आगमन एक चमत्कारी पुरुष के रूप में होता है। समाज में पहले गुरु से ज्ञान ग्रहण करने बाद उन्हें गुरुदक्षिणा दी जाती थी। ऐसे गुरुदक्षिणा की आकांक्षा रखनेवाले गुरु शिष्य को ज्ञानविद्या देने में भेद-विभेद करते थे और कहीं बार गुरु से प्राप्त विद्या शिष्य के उपयोगी नहीं आ पाती थी। इसका अर्थ हुआ कि जाति को देखकर ज्ञान देने की प्रथा थी और शिष्य को विद्या का श्रेय गुरु को देना पड़ता था। संत नामदेव निम्न जाति के थे परंतु उन्हें ब्राह्मण संत वीसोबा खेचर से शिष्यत्व प्रदान किया गया। इससे पहले की गुरु-शिष्य परंपरा का महत्त्व कम प्रतित होता हैं । संत-परम्परा में सहजतापरक ज्ञान को गुरु-शिष्य परंपरा में पुनः जागृत कराकर समाज में मानवी मूल्य को सृजित किया है ।

मुझे निजसुख तुजपाशी आहे । विचारुनी पाहे मनामाजी ॥
विवेक वैराग्य शोधुनिया पाहे । तेणे तुज हो ब्रह्मप्राप्ति
ज्ञानाचा प्रकार सहज जाला । अहंभाव गेला गलानियाँ ॥
पर पीसा म्हणे जेथे ओंकार निर्मला । सहजचि जाला ब्रह्ममूर्ति ॥7

संत नामदेव ने मराठी भाषा के साथ हिन्दी में गुरु भक्ति की महत्ता सिखों के 'गुरुग्रन्थसाहिब' में उजागर की है ।

जउ गुरुदेव मिले मुरारी । जऊ गुरुदेऊ त उत्तरै पारि ॥
जय गुरुदेऊ त संसार टूट । जऊ गुरुदेऊ त जमते छूटै ॥
जय गुरुदेऊ त भरुजल तरे । जड गुरुदेऊ त जनमि नमरै ।8

संत नामदेव को ईश्वर के व्यापक अस्तित्व का साक्षात्कार सद्गुरु वीसोबा खेचर के आशीवार्द से प्राप्त हो गया था ।

(विशेष संदर्भ : आदिवासी हिन्दी कविता)

डॉ. जगदाले अप्पासाहेब गोरक्ष

संत नामदेव का दार्शनिक चिंतन

महाराष्ट्र की संत परम्परा में नामदेव एकमेव संत थे । उनकी विट्ठल पर असीम भक्ति होने से पहले ईश्वर प्राप्ति हुई और बाद में गुरु की । संत नामदेव को विट्ठल भक्ति की सुमधुर मिठास मिलने से उसीके पास अपना आखिर में स्थान पा लिया । इस तरह की बात भारतीय संत-परम्परा बहुत कम मिलती है । जहाँ पहले शिष्य का दर्शन होता है और बाद में गुरु का दर्शन प्राप्त होता है ।

संत मुक्ताबाई ने संत नामदेव के गुरु ज्ञान के लिए पूरी संत मंडली ने उनकी परीक्षा ली थी। उसी घटना को अनुसरण करनेवाला अभंग है-

जोहारियाचे पुढे मांडियेले रत्न। आता मोला उणे येईल कैसे ॥
तैसे थोपटणेपारिखियाचा हात। वाफ जाल्या घात वाया जाती ।
प्रथम थोपटणे निवृत्तिच्या माथा। डेरा जाला निका पर ब्रह्मा ॥
तेची थोपटणे सोपानाचे ढोई । यांत लेश नाही कोरे कोठे ॥
तेची थोपटणे मुक्ताबाई हाणी। अमृत संजीवनी उतु आली ॥
तेची थोपटणे नामदेवावर। डोई चोलू मोहरे रहो लागे ॥
गोरा म्हणे कोरा ही राहिला गे बाई । सुन्नेभरि नाही भाजियेला ॥1

संत गोरा कुंभार अपने हाथों से मिट्टी का मटका या बर्तन बनाते थे और बाद में आग में भुजाकर पक्का करते थे । फिर कुम्भार द्वारा मटके को थोड़ा पिटकर देखा जाता है कि वह कहीं कच्चा न रहा हो ! उसी तरह से सबसे पहले संत निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव आदि के सिर पर कुम्भार के मटका कूटनेवाले लकड़ी से मार देखा तो कोई आवाज नहीं आयी परन्तु मुक्ताबाई ने संत नामदेव के सिर पर मारकर देखा तो रोने की आवाज आयी। इससे पतित हुआ कि संत नामदेव को गुरु ज्ञान न होने का बोध होता है । संत मण्डली ने परीक्षा लेने के बाद सभी ने संत नामदेव के प्रति अपना विचार दिया है कि वे स्वभाव से बड़े कोमल स्वभाव होने पर उनका अंतः करण कोरा रह गया और संत नामदेव को गुरु की आवश्यकता प्रतित हुई ! इस पूरी घटना से संत नामदेव को बड़ा अपमान महसुस हुआ और वे अपने सगुण ईश्वर (विट्ठल) के पास जाकर पूरा विवरण बता दिया । इस पर विट्ठल ने संत नामदेव को आवाहन किया कि आप वीसोबा खेचर को गुरु बना लीजिए । संत नामदेव ने महाराष्ट्र

इस उपन्यास की लोकप्रियता को देखकर कुशवाहाकांत के छोटे भाई जयंत कुशवाहा ने पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट शर्मा का आधार लेकर उसी कड़ी में 'बारूद', 'क्रान्तिदूत', 'कफन' और 'जनाजा' नाम से चार उपन्यास और लिखे। ये उपन्यास भी खूब बिके लेकिन इनमें 'लालरेखा' वाली बात नहीं थी। बी.ए. में पढ़ने के लिए जब मैं बनारस गया तो एक दोपहर जयंत कुशवाहा से मिलने उनके कबीरचौरा स्थित चिंगारी प्रकाशन गया। मैंने पहले से कोई समय नहीं लिया था। उन्होंने मुझे खास तवज्जो नहीं दी। अपने पाठकों से मिलकर अपनी ही रचना पर बतियाने का साहित्यकारों जैसा रोग शायद उस श्रेणी के उपन्यासकारों में नहीं होता है।

उन दिनों हमारे गांवों में एक नक्सलवादी नवयुवक अक्सर आया करता था। एक दिन मैंने चुपके से उसका बैग खोलकर देखा। उसमें रिवाल्वर जैसी कोई चीज नहीं थी। हां कुछ किताबें और उस अखबार की कुछ प्रतियां थीं, जिन्हें शहर में छाप कर वह गांव के लोगों के बीच बांटा करता था। मुझे निराशा हुई। ये आजादी के बाद के दौर के नये किस्म के क्रान्तिकारी थे। साहस और संकल्प के साथ सामाजिक चेतना का महत्व इनमें बढ़ गया था।

उस नक्सलवादी नवयुवक ने ही मुझे पहली बार गोर्की का 'मां' उपन्यास पढ़ने के लिए दिया। फिर तो यशपाल का 'दादा कामरेड', 'तेरी मेरी उसकी बात', भगवतीचरण वर्मा का 'प्रश्न और मरीचिका', ताराशंकर वन्द्योपाध्याय का 'गणदेवता' फिर हावर्डफास्ट के उपन्यास हमने पढ़े। उसी समय ताजा-ताजा छपकर आयी मेरी टाइलर की 'भारतीय जेलों में पांच साल' हमने पढ़ी। फिर तो नये किस्म की किताबों से परिचय होने लगा। उस नक्सलवादी ने चुपके से हमारी 'टैªक' बदल दी। हम किताबों की दुकान पर जाते तो वैसी किताबों की ओर अब कभी ध्यान ही नहीं जाता।

जब राजेन्द्र यादव ने मुझसे कुशवाहाकांत पर लिखने के लिए कहा तो तत्काल मेरे दिमाग में 'लालरेखा' कौंध गयी। मेरे किशोरावस्था की सबसे प्रिय पुस्तक। व्हीलर की दुकान पर कुशवाहाकांत की किताबें कहीं नहीं मिलीं। शायद इतनी ही उन किताबों की उम्र होती है। प्रेमचन्द या यशपाल के उपन्यास अभी भी हर जगह मिल जाते हैं। जो बाजार के बल पर समय के एक खास हिस्से को जकड़ कर अपने रंग में रंगने की चेष्टा करते हैं, समय उन्हें मैल की तरह उतार कर फेंक देता है। और वे किताबें जो समय की धड़कन से अपना संगीत रचती हैं, समय उनके संगीत को सहेज कर देर तक और दूर तक उनमें अपना सुख-दुख सुनता रहता है। वैसी रचनाओं में ही कालातीत होने की गुंजाइश बनी रहती है। इस बाजार के कई अक्स हैं। सिर्फ वही नहीं जो व्हीलर की दुकानों में दिखता है। हिन्दी आलोचकों के यहां भी इसे तमाम तरह के जोड़-तोड़ में देखा जा सकता है।

लेकिन यह तय है कि कोर्स से ज्यादा उन किताबों ने लेखक बनने में योगदान दिया है। वे एक ऐसे बीज की तरह साबित हो रही हैं जिनके भीतर अंकुरण की संभावना भरी होती है। लेकिन अंकुर के विकसित होने की प्रक्रिया में बीच का कठोर आवरण टूट बिखर कर सड़ जाता है। वैसे लेखन को स्वस्थ साहित्यिक लेखन का विरोधी माना जाता रहा है। लेकिन तब शायद बहुत दिनों तक दूर-दूर गांवों में किताबें पढ़ने की परम्परा उन्हीं के कारण बची हुई थीं। कुशवाहाकांत की 'लालरेखा' का इस परम्परा में शायद सबसे महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

❑ सेवानिवृत्त आचार्य, हिंदी

प्रो. हरीश कुमार

संप्रेषण

संप्रेषण इतना पुराना है जितनी की सभ्यता। प्रभावी संप्रेषण की आवश्यकता न केवल व्यवसायिक जीवन में होती है अपितु सामान्य जीवन में भी ये इतना ही महत्वपूर्ण है। उत्कृष्ट संप्रेषण शैली व्यक्ति के व्यक्तित्व में निखार लाती है और उसके सफल होने की संभावनाओं को बढ़ाती है। यदि संप्रेषण को परिभाषित करना चाहे तो हम यह की सकते हैं कि संप्रेषण विचारों, तथ्यों एवं भावनाओं के आदान- प्रदान करने का माध्यम होता है। संप्रेषण की प्रक्रिया को तभी प्रभावी माना जा सकता जब प्रेषक द्वारा प्रेषित विचार, सूचना एवं भावना संप्रेषण प्राप्तकर्ता द्वारा उसी अर्थ में समझे जाते हैं । संप्रेषण प्रक्रिया के विभिन्न घटक होते हैं, जैसेः- प्रेषक, संदेश का निर्माण, संदेश माध्यम, संदेश की व्याख्या, प्राप्तकर्ता एवं प्रतिपुष्टि। दो घटक पहला शोर एवं दूसरा असामान्य संदर्भ विन्यास संप्रेषण की प्रक्रिया को अप्रभावी बनाते है। संप्रेषण की प्रक्रिया को प्रभावी बनाने हेतु हमें चाहिये कि हम इसमें आने वाली बाधाओं को पहचाने और उनसे बचने का प्रयास करें। सूचना प्रौद्योगिकी ने संप्रेषण को और अधिक सरल बना दिया है बशर्ते संप्रेषण करने वाले व्यक्तियों को सूचना प्रौद्योगिकी का ज्ञान हो।

संप्रेषण के प्रकारः- संप्रेषण प्रमुख रूप से तीन प्रकार का हो सकता है। मौखिक संप्रेषण, लिखित संप्रेषण एवं अमौखिक संप्रेषण।

1. **मौखिक संप्रेषणः**- मौखिक संप्रेषण का मतलब है बोलचाल की भाषा में संप्रेषण करना, मौखिक संप्रेषण सामान्य रूप से अधिक प्रयोग होता है। मौखिक संप्रेषण आमने सामने हो सकता है तथा दूरभाषी भी हो सकता है। यदि मौखिक एवं अमौखिक संप्रेषण में सामंजस्य हो तो मौखिक संप्रेषण और अधिक प्रभावी हो सकता है। मौखिक संप्रेषण के सकारात्मक एवं नकारात्मक कारक हो सकते हैं। सकारात्मक कारकों में तुरन्त प्रतिपुष्टि, चेहरे के हाव-भाव पढ़ने के अवसर, आर्थिक रूप से मितव्ययी, समय की बचत आदि को शामिल किया जा सकता है। नकारात्मक कारकों में उत्तरदायित्व निर्धारण कठिन, कोई वैधानिकता नहीं,

कवि को अपनी संस्कृति पर गर्व है । उसे किसी अन्य की संस्कृति नहीं चाहिए । वह गुहार लगा रहा है अपने सगा जनों से की पुरखों की बातों को मत भूलो, बल्कि उन्हें पढ़ो और और वापस अपनी संस्कृति को अपनाओ । सांस्कृतिक महत्व का अंदाजा लगाया जा सकता है कि कवि आगाह कर रहा है की हमें उधार की सभ्यता नहीं चाहिए ।

देखता हूँ समाज को भटकती राह में ।
अपने समाज के स्वादिष्ट रीत नीत
आज भूल रहे हैं पुरखों की बातें
चुपचाप चले जा रहे हैं दूसरों के रिवाज पर
बल्कि उधार में दूसरे सभ्यता को अपनाते हुए देखता हूँ ”

आदिवासी संस्कृति सहअस्तित्व के दर्शन को स्वीकार करती है । लेकिन आज की ग्लोबल दुनिया एकल हो गई है । सभी संस्कृतियाँ एक दूसरे को पछाड़ने में लगी हुई हैं । सवाल यह है कि असमानता और भेदभाव से जूझती दुनिया को क्या एकदूसरे को पछाड़ कर ही बेहतर, समतामूलक और इंसानी बनाया जा सकेगा । कवि अपनी पुरखौती साहित्य और संस्कृति के प्रति लौटना चाहता है । कवि अपनी मूल संस्कृति की ओर लौटना चाहता है । वह अपील कर रहा है कि मुझे अपने जंगल, पोखर, पेड़-पौधों की तरफ लौटा दो । पहाड़ी संस्कृति ही उसे अधिक सुख प्रदान करती है ।

हमें लौटा दो
हमारे पुरखों की सम्पदा
झरने-सोते
माटी-पानी, पोखर-तालाब
मुक्त हवा खुला आकाश
हमारे हिस्से की रोशनी
पेड़-पौधों का प्यार
लता-बेलियों की ममता
जंगल-पहाड़ का आधार”

आदिवासियों की सांस्कृतिक संघर्ष सदियों पुराना है । गीतों में ही उनकी अस्मिता और अस्मिता के संघर्ष के बीज भी हैं । कवि आदिवासी सगा जनों से आह्वान कर रहा है । ये गीत ही उसकी संस्कृति हैं । अनुज लुगुन कविता की पात्र 'बिरसी' के माध्यम से गीतों के महत्व को बता रहे हैं ।

तुम सुन सकती हो
उन गीतों को, उन कथाओं को
जो तुमने सुना होगा अपने स्वजनों से
उन्हीं गीतों में माजूद है
बाघ से द्वन्द्व का सकारात्मक प्रमाण
उन प्रमाणों की व्याख्या ही
एक नया अध्याय प्रस्तुत करेगा,
सुनो गीत,
आओ, गाओ गीत
गीत ही हैं प्रतिमान बेहतर मनुष्यता के”

आदिवासियों में सहजीविता आवश्यक है । उसकी सांस्कृतिक एकता ही उसके सहजीविता के आधार होते हैं । और संस्कृति की रक्षा के लिए ये गीत आवश्यक हैं । आदिवासियों की सहजीविता के लिए ये गीत क्यों जरूरी हैं कवि यह भी बता रहा है ।

हमारे गणतन्त्र के आधार गीत हैं
गीत ही मंतर है
रोग निवारक प्रमुख औषधि हैं
गीतों का ह्रास गणतन्त्र का ह्रास है”
आदिवासियों समाज के लिए गीत की महत्ता –
जब-जब गीत टूटे हैं
सत्ताओं के विषाणु पनपे हैं”

आदिवासी समुदाय के अलावा आज के दौर में भारतीय संस्कृति का नाम लेते ही हम अमूमन वैदिक कालीन संस्कृति से ही उसका अर्थ लगा लेते हैं । जबकि भारत वास्तव में विविधताओं वाला देश है । यहाँ हजारों संस्कृतियाँ हैं । जो अपने आप में अलग महत्व रखती है । प्रत्येक धर्म की अलग अलग संस्कृति है । उसी प्रकार आदिवासी समुदाय भी बाह्य तौर अपने को आदिवासी धर्म का ही मानता आया है । संस्कृति का चलन यहीं से शुरू हो जाता है । आदिवासी हमसे अलग नहीं हैं । आज की संस्कृति के निर्माण में आदिवासियों की महत्वपूर्ण भूमिका है इस बात को समझने की जरूरत है ।

❑ **सहायक प्राध्यापक,** अस्थायी
हिंदी

उत्पादन संबंधों के आधार पर संस्कृति के अलग-अलग स्तर होते हैं ।

आदिवासी संस्कृति, सभ्यता, परम्परा, भाषा शैली, कला-कौशल को समझने के लिए उसके ऐतिहासिक पहलुओं पर जाना होगा तथा साहित्यों में इनके दर्शन को ढूँढने होंगे । आदिवासियों के साहित्यों में इनके वास्तविक गूढ़ दर्शन दुर्लभ है । आज आवश्यकता है उनके संरक्षण की । आदिवासी हिन्दी कविता हमेशा से आदिवासी संस्कृति को बचाने कि वकालत करता रहा है । आदिवासी समाज से पृथक होकर कोई भी समुदाय आदिवासी समाज की परिभाषा को पूर्ण नहीं करता है, बल्कि ऐसी स्थिति में साहित्य, समाज की परिभाषा को तोड़ कर बिखेर देता है । देश के वर्ग विशेष द्वारा बनाई गई वर्ण और जाति व्यवस्था इसके सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण है । इस प्रकार का समाज आज आदिवासियों के यहाँ भी निर्मित करने की कोशिश की जा रही है । यह आदिवासी संस्कृति के घटक है । इससे आदिवासी समाज और संस्कृति बिखर जाएगी । दूसरों ने जो रास्ता आदिवासियों को तोड़ने के लिए बनाई उसे आज का आदिवासी बुद्धिजीवी वर्ग सहर्ष स्वीकार कर उसी रास्ते पर बढ़ रहा है । इस स्थिति के कारण साहित्यकार और उनके साहित्य समाज को मार्गदर्शन करने के उत्साह में सम्पूर्ण आदिवासी समाज को टुकड़ों में तोड़ने के लिए उत्तरदायी तत्वों को चिन्हित करने कि कोशिश कर रहे हैं ।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो वास्तव में आदिवासी समाज का सबसे वृहद, सम्पन्न भू-भाग रहा । सदियों से उसकी अपनी बोली भाषा और लिपि भी रही, जिसके माध्यम से विचारों का आदान-प्रदान, व्यापार विनिमय करते रहे । अपनी प्राकृतिक एवं समृद्धिपूर्ण संस्कृति रही । फिर भी आदिवासी समुदाय अपनी समृद्धि को बचाए रखने और विकास की ओर आगे बढ़ने से कतरा रहा है । असल में आदिवासी समाज कि सामूहिकता इससे छिन्न-भिन्न होने का डर रहता है ।

आदिवासी समाज आज भी जोर देकर कहता है कि वह सदियों से प्रकृति और अपने पुरखों का पूजक रहा है और आज भी है । वह प्रकृति पूजा को अपना धर्म मानता रहा है और आज भी मानता है । वह सदियों से अपनी प्रकृति सम्मत सर्वोच्च मानव संस्कृति और सभ्यता का वाहक रहा है और है । वह अपनी बोली भाषा पर सदियों से अटल रहा है आज भी है, किन्तु समाज का धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्वसाहित्य और साहित्यों में एकरूपता तथा प्रचार-प्रसार के अभाव में धीरे-धीरे सबकुछ विलुप्त होता जा रहा है । लिखित साहित्य की कमी और आदिवासियों के ऊपर बहुसंख्यक गैरआदिवासियों द्वारा किए लेखन से उनके विकास और संस्कृति के रास्तों को अवरुद्ध कर दिया ।

किसी भी विशिष्ट वस्तु, प्रथा, परंपरा आदि का अपना एक अलग महत्व होता है । यदि यह कहा जाये कि आदिवासी संस्कृति की नींव पर ही भारतीय संस्कृति खड़ी है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । बल्कि इससे भारतीय संस्कृति के विशालता का पता चलता है । कवयित्री ने इसका जिक्र अपनी कविताओं में भी किया है –

दुनिया को सिखाने वाले
क्यों ताक रहा है
मुंह किसी का
पर्वत तुम्हें पुकार रहा है
सुनने को गीत तरस रहा है
मतवाला हो जा धुन में अपनी
झूम-खूम गा गली-गली ।”

आदिवासी समुदाय में पलायन एक बड़ी समस्या रही है जो आज भी अनवरत जारी है । भूमंडलीकरण कि चकाचौंध ने आदिवासी युवकों को अपनी मूल संस्कृति से अलग कर रही है । आदिवासियों में धूमकुड़िया का आयोजन होता है जिसमें प्रेम में रहने वाले लड़के-लड़की एक साथ रह सकते हैं । जिसे आज का आभिजात्य वर्ग लिव इन रिलेशनशिप का नाम देकर अपने आपको सभ्य होने का दावा करते हैं । दरअसल यह आदिवासियों की पुरानी परंपरा है । इसे घोटुल के नाम से भी जाना जाता है । इसीलिए आदिवासी अपनी संस्कृति में ही बना रहना चाहता है । आगस्तीन महेश कुजूर लिखते हैं -

अखड़ा धुमकुड़िया में संगियों संग
करम सरहुल राग सुनाया
दोन डांड़ हल चलाते समय
मीठे प्रेम भरे गीत गया
फिर क्यों आज दूर देश
चले आ रहे हो, लौट आओ
मत जाओ परदेश”

गल्तियों की संभावना अधिक, लंबी दूरी के संप्रेषण के लिये अनुपयोगी, कोई अभिलेख नहीं बनता आदि को शामिल किया जा सकता है।

2. लिखित संप्रेषण:- लिखित संप्रेषण को भी सामान्य रूप से अधिक उपयोग में लाया जाता है। लिखित संप्रेषण के कई माध्यम हो सकते हैं जैसेः-ई-मेल, पत्र, मेमो एवं रिपोर्ट आदि।यदि हस्तलिखित संप्रेषण किया जाता है तो यह आवश्यक है कि लिखावट पढ़ने योग्य हो । लिखित संप्रेषण के भी अपने लाभ एवं दोष हो सकते हैं जो इस प्रकार हैंः- लाभ लंबी दूरी के संप्रेषण के लिये उपयोगी, यह स्थायी अभिलेख बनाता है, एक कानूनी दस्तावेज के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है आदि। लिखित संप्रेषण के कई दोष हो सकते है जैसेः- शीघ्र प्रतिपुष्टि कठिन, खर्चीला होता है, समय ज्यादा लेता है आदि।

3. अमौखिक संप्रेषणः- अमौखिक संप्रेषण तीन प्रकार का हो सकता हैः- सांकेतिक भाषा एवं चिन्हो द्वारा संप्रेषण, वस्तुओं द्वारा संप्रेषण सवं शारीरिक भाषा, शारीरिक भाषा को भी निम्न तीन प्रकारों में बाटा जा सकता है। पहला- चहेरे की अभिव्यक्ति दूसरा- बैठने एवं खड़े होने के ढ़ंग तथा तीसरा-हाव-भाव अमौखिक संप्रेषण को अधिकतर लोग उतना महत्व नहीं देते जितना की देना चाहिये। इसकी अपनी महत्ता है। जिन लोगों की मौखिक एवं लिखित संप्रेषण के साथ अमौखिक संप्रेषण पर भी अच्छी पकड़ होती है वे लोग प्रभावी संप्रेषक कहे जा सकतें हैं शायर के शब्दों में’वो इस अदा से झूठ बोला रहा था, मैं अगर एतबार न करता तो क्या करता।

संप्रेषण यदि सावधानी के साथ न किया जाये तो विभिन्न प्रकार की बाधाओं से ग्रसित हो सकता है। ये बाधाएँ निम्न प्रकार हो सकती हैः-

संप्रेषण की बाधायें:-

- संप्रेषण का जितना लंबा माध्यम होगा उतनी ज्यादा संदेश की टूट -फूट होगी क्यों कि प्राकृतिक रूप से माध्यम में शामिल व्यक्ति अपनी ओर से संदेश में कुछ जोड़ सकते हैं, कुछ घटा सकते हैं एवं कुछ बदल सकते हैं ।
- संप्रेषण में अधिक तकनीकी और कठिन शब्दों का प्रयोग विशेष रूप से तब जबकि संदेश प्राप्तकर्ता उन शब्दों से अनभिज्ञ हो, संप्रेषण की प्रक्रिया को अप्रभावशील बना देता है।
- संप्रेषण करने की अनिच्छा भी संप्रेषण को बाधित करती है।
- संप्रेषण की साधनों का अभाव एवं अप्रभावशीलता भी संप्रेषण में बाधक होते हैं ।
- कार्मिकों में आपस में सांमजस्य, सहयोग एवं विश्वास की कमी भी संप्रेषण को अप्रभावी करते हैं।
- संगठनात्मक ढांचा यदि विशाल एवं जटिल हो तो भी संप्रेषण अप्रभावी हो सकता है।
- अधुरा संप्रेषण स्वयं में एक बाधा है क्यों कि ये संप्रेषण प्राप्तकर्ता के लिये अपनी सुविधा अनुसार रिक्त स्थान में कुछ भी भरने का अवसर प्रदान करता है। सुविधा अनुसार रिक्त स्थान की पूर्ति संप्रेषण की प्रभावशीलता को कम कर सकती है।
- भौतिक एवं मानसिक शोर, भौतिक दूरी, भौतिक अवरोध एवं संप्रेषण कर्ताओं के बीच के संबंध आदि बाधाएं भी संप्रेषण की गुणवत्ता को नकारात्मक रूप से प्रभावित कर सकती हैं।
- मनोवैज्ञानिक बाधायें जैसे:- अतिभावुक होना, अति क्रोधित होना, अति तनाव ग्रस्त होना, ध्यान का अभाव आदि भी संप्रेषण को कमजोर करती है।

संप्रेषण को प्रभावी बनाने के तरीकेः- व्यवसाय या जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये प्रभावी संप्रेषण नितान्त आवश्यक है। निम्न तरीको से संप्रेषण को प्रभावी बनाया जा सकता है।

- सक्रिय श्रोता बनें क्यों कि एक अच्छा श्रोता ही अच्छा वक्ता हो सकता हैं।
- संप्रेषण के लिये एक उपयुक्त स्थान का चयन करें एवं उचित वातावरण बनावें ।

- अति भावुक न हो क्योंकि अति भावुकता की स्थिति से संप्रेषण प्रभावी नहीं रहता ।
- आत्म विश्वासी बनें एवं सकारात्मक सोच रखें।
- सुनिश्चित करें कि संप्रेषण करने वाले व्यक्ति संप्रेषण करने के लिये इच्छुक हों।
- संप्रेषण के उचित माध्यम का चयन करें।
- पूर्ण संप्रेषण करें ताकि प्राप्तकर्ता को रिक्त स्थान भरने का अवसर न मिले एवं अर्थ का अनर्थ न हो।
- संप्रेषण के समय आपकी शारीरिक भाषा उपयुक्त होनी चाहिये । आप अपने संपूर्ण शरीर को बोलने का अवसर दें।
- आप संप्रेषण के माध्यम को छोटा रखें ताकि संदेश में कोई टूट-फूट न हो और व अर्थपूर्ण बना रहें। शायर के शब्दो में:- 'गैरो से कहा तुमने गैरों से सुना हमने कुछ हमसे कहा होता कुछ हमसे सुना होता'।
- आपका संप्रेषण ऐसा होना चाहिये कि असमें कोई संदिग्धता न हो।
- संप्रेषण कर्ता एक बार में उतना ही संप्रेषण करे जितना की संप्रेषण प्राप्तकर्ता उसको अच्छी तरह समझ सकें एवं अपनी स्मृति में रख सके।
- सही समय पर संप्रेषण करें।
- संप्रेषण दैव योजनाबद्व तरीके से करना लाभदायी है

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि संप्रेषण व्यक्तियों के बीच सूचनाओं का आदान प्रदान होता है। यह एक नितान्त आवश्यक कला है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व में निखार लाकर उसके सफलता अर्जित करने में सहायक होती है। एक प्रभावी संप्रेषक अपने संप्रेषण के माध्यम से अन्य व्यक्तियों को प्रभावित कर सकता है। यदि हम सोच समझकर एवं योजना बनाकर संप्रेषण करें तो काफी हद तक संप्रेषण की प्रभावशीलता को बनाये रख सकते हैं। शायर के शब्दों में 'सुना है कि जब बोलते हैं तो फूल झड़ते हैं, अगर यह बात है तो बात करके देखा जाये'।

❑ आचार्य , प्रबंध अध्ययन

इतिहास बताता है और हमारी सांस्कृतिक पहचान को अक्षुण्ण रखता है । आप किसी भी आदिवासी गाँव की कल्पना 'पत्थलगढ़ी', 'समनदिरि' और 'हड़गड़ी' के बिना नहीं कर सकते हैं ।' यह परंपरा आज भी आदिवासी क्षेत्रों में दिखाई देती है । पत्थलगढ़ी की संरचना को लेकर अभी हाल के वर्षों में काफी विवाद हुआ था । एक कविता के माध्यम से समझते हैं -

इन मृत पत्थरों पर जीवित हैं
हमारी सैकड़ों पुश्तों की विरासत
लेकिन सरकारी पट्टों पर
इनका कुछ पता नहीं है
ये हमारे घर हैं
और इस तरह हम बेघर हैं सरकारी पट्टों पर,
हमारी विरासत पर दखल हुई
सरकारी पट्टों की
एक बार फिर हम लड़े
अपनी तदाद से
हथियार बंद राजाओं के खिलाफ
समय की पगडंडियों पर चलते हुए
इसी तरह इतिहास रचते गए
पुरखों के नाम पत्थर गाड़ कर
हम तैयार होते गए
नए मोर्चों पर लड़ाई के लिए,
ये सरकारी चेहरे की तरह पत्थर नहीं हैं
इनमें जंगल के लिए लड़ते हुए
एक पेड़ की कहानी है"

संस्कृति का महत्व उनकी सामाजिक जनजीवन को प्रभावित करती है। आदिवासी कवयित्री डॉ. हीरा मीना जी अपनी कविता में संस्कृति को व्याख्यायित करते हुए लिखती हैं -

"जीवन को सजा सँवारकर परिष्कार करती है, संस्कृति !!
मानवता के अनमोल जीवन मूल्यों का संचार करती है, संस्कृति !!
वसुधैव कुटुंबकम की अमृत जीवनधारा का नवनिर्माण करती है, संस्कृति !!
मानव के जन्म से लेकर आजीवन संस्कारों के साथ रहती है, संस्कृति !!
मानवता का पर्याय है नदी, नारी और संस्कृति !!"

भारत की आदिवासी संस्कृति और उनकी परंपराएँ व प्रथाएँ भारतीय संस्कृति और सभ्यता के लगभग सभी पहलुओं पर व्याप्त हैं । संस्कृतियों के अपने कुछ लक्षण होते हैं जो समाज के समानान्तर ही चलते हैं । संस्कृति के आंतरिक और बाह्य दोनों स्वरूपों के अध्ययन के फलस्वरूप उसके कुछ लक्षण परिलक्षित होते हैं । जैसे 'संस्कृति आदर्शात्मक होती है, संस्कृति संचारशील होती है, संस्कृति सीखे हुए गुण है, संस्कृति समाज की कुछ आवश्यकताओं को पूर्ण करती है, संस्कृति केवल मानव समाजों में पाई जाती है, संस्कृति वैयक्तिक नहीं बल्कि सामाजिक है, संस्कृति में एकीभूत होने का गुण है, संस्कृति में उपायोजन की योग्यता होती है ।' ये सभी प्रवृत्तियाँ आदिवासी संस्कृति में पाई जाती हैं । इससे आदिवासी समाज अधिक समृद्ध है ।

संस्कृति के ये सभी लक्षण सामाजिक प्रतिमानों को प्रदर्शित करते हैं । विभिन्न सामाजिक क्रियाकलाप संस्कृति के तत्व बन जाते हैं । संस्कृति से तात्पर्य मानव समुदाय के नैतिक, सामाजिक और शैक्षिक श्रेष्ठताओं से है । जो मानव समुदाय को संस्कारित करती है । यही वजह है कि अनेक आदिवासी समुदाय में भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ श्रेष्ठत्व का भाव लाती हैं । संस्कृति में वह सबकुछ शामिल है जो समाज में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दिया जाता है । जैसे ज्ञान, धार्मिक विश्वास, कला, कानून, नैतिक नियम, रीति-रिवाज, तौर-तरीके, साहित्य, संगीत, भाषा इत्यादि । समाजशास्त्री बोगार्डस के शब्दों में संस्कृति एक समूह के समृद्ध रीति-रिवाजों, परम्पराओं और चालू व्यवहार प्रतिमानों से बनती है । संस्कृति एक समूह का मूलधन है । वह मूल्यों की एक ऐसी पूर्ववर्ती समष्टि है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति पैदा होता है । वह एक माध्यम है जिसमें व्यक्ति पैदा होते हैं और विकसित होते हैं ।

वास्तव में आदिवासी संस्कृति का दायरा बहुत व्यापक है । इसमें चित्र, स्थापत्य कला, मूर्ति, संगीत आदि कलाओं, साहित्य से लेकर सामान्य खान-पान, रहन-सहन, काम-काज, रीति-रिवाज, भाषा-बोली सहित तमाम दैनिक क्रियाकलाप जो आदिवासी समाज द्वारा जीवन में प्रयुक्त व्यवहार शामिल हैं । आदिवासी संस्कृति के ये सभी घटक संबन्धित समुदाय की भौतिक अवस्थाओं से निर्मित होते हैं । किसी विशेष भौगोलिक स्थिति और उत्पादन संबंध के अंतर्गत जीवन जीने वाले लोगों में संस्कृति एक प्रकार की होती है, हालांकि उस विशेष भौगोलिक स्थिति में भी

समुदाय निवास करते हैं । इन आदिवासियों की अगर संस्कृति की बात की जाय तो यह काफी अलग अलग हैं । किन्तु इनका मूल लगभग एक जैसा है । सम्पूर्ण रूप से इन्हें असमियाँ ही कहा जाता है । और इन्हें इसी संस्कृति के नाम से भी जाना जाता है । संस्कृति से उस समाज के मूल चेतना का पता चलता है ।

प्रायः आदिवासियों को उनकी पुरातन संस्कृतियों से जोड़कर उनको असभ्य और बर्बर कहा जाता है । आदिवासियों को बाहरी हस्तक्षेप बिलकुल पसंद नहीं है । कवि स्पष्ट कहता है कि आप सभ्य हो तो बने रहो हम अपनी मूल संस्कृति में ही ठीक हैं ।

वे हमें झोपड़ियों में सभ्यता सिखाने आए,
हम तुम्हें शान से जीना सिखाएँगे ।
कुछ ही सालों में तुम्हें आदमी बनाएँगे ।
उन्होने पहाड़ों को तोड़ा, जंगलों को काटा,
हमारी झोपड़ियों पर बुलडोजर चलाया ।
पेड़ो के बदले थमा दी हमें दारू की बोतल
हम मजबूरी में मजदूर बन गए
साहूकारों के भाग्य खुल गए ।
हमसे आजादी, अस्मिता व अस्मत ली छीन,
हमारे हाथ में थमा दी असभ्य होने की बीन ।"

प्रत्येक राज्य, राष्ट्र, समाज अथवा समुदाय की एक पृथक सामाजिक व्यवस्था होती है । उस पर स्थानीय इतिहास, भूगोल आदि का प्रभाव देखा जा सकता है । अब यही संस्कृति भेद का प्रश्न उठता है । एक समुदाय के लिए जो स्वीकृत आदर्श रूप संस्कृति है । दूसरा समुदाय उसे उसी आदर्श रूप में स्वीकार करे या न करे या स्वीकार करके भी उसे आदर्श के रूप में उतनी प्रतिष्ठा दे या न दे यह आवश्यक नहीं है । संस्कृतियों का विस्तार समुदाय के अपने मूल आदर्शों पर निर्भर करता है । संस्कृति किसी समुदाय की अंतश्चेतना या प्राण है । कोई भी समुदाय या सभ्यता संस्कृति विहीन हो ही नहीं सकता । सभी समुदायों के अपने आदर्श और मूल्य होते हैं जिन्हें वे सदियों से परंपरा के रूप में स्वीकार करते आ रहे होते हैं । संस्कृतियों के क्षीण होने पर आंतरिक संघर्ष भी शुरू हो जाता है । दो समुदायों के आपस में सम्मिलन से संस्कृतियों का आपस में संघर्ष होता है । किन्तु इतिहास में समुदायों का मिश्रण होना लगभग अनिवार्य है । कोई भी ऐसी संस्कृति नहीं होगी जिनमें कुछ न कुछ परिवर्तन न हुआ हो । कोई भी आदिवासी समुदाय जितना अधिक शक्तिशाली होगा उसके आदर्श जितने अधिक मजबूत होंगे संस्कृति भी उतनी भी शक्तिशाली होगी । संस्कृति का स्वरूप एक नदी के जल के समान होता है जिसमें पुराना जल बहकर आगे चला जाता है उसकी जगह दूसरा जल ले लेता है ।

किसी देश या समुदाय की संस्कृति के विकास में उसके धार्मिक विश्वासों का बहुत महत्व होता है । धार्मिक विश्वास किसी भी सभ्यता को बांधकर रखती है । वास्तव में सभ्यता और संस्कृति एक दूसरे के पूरक होते हैं और एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं । भारत के आदिवासी मूलतः प्रकृति धर्म से संबन्धित सरना धर्म को मानते हैं । यह उन्हें प्रकृति के संपर्क में लगातार रहने का मौका देती है । आदिवासियों में मनाया जाने वाला सरहुल पर्व प्रकृतिपूजा का सबसे बड़ा सूचक है । यह उनकी संस्कृति का हिस्सा है । धार्मिक कार्यों के फलस्वरूप वह सभी समूहिक रूप से बंधे भी होते हैं । आदिवासी समाज में किसी भी कार्य को करने का अपना एक अलग तरीका होता है । यह तरीका आदिवासियों के अलग-अलग समुदायों में अलग होते हैं । ज़्यादातर आदिवासी समुदाय प्रकृति पूजक होते हैं । संस्कृति का अपने मूल अर्थ में ही संस्कारित होती है । जो कार्य हमें दैनिक जीवन में सिद्धि के निकट पहुंचाती है वही कार्य श्रेष्ठतम कहलाती है । वास्तव में वही संस्कृति है ।

ईसाई और इस्लाम धर्म में मृतकों की पहचान व उनसे जुड़ी हुई लाइनों को पत्थरों में लिखकर मृतक के शव के पास गाड़ने की परंपरा आज भी मिलती है । वास्तव में यह परंपरा कभी आदिवासी समुदाय के संस्कृति का हिस्सा रही है । जिसे आदिवासी भाषा में 'मेगालिथ' कहा गया है । झारखंड छत्तीसगढ़ आदि राज्यों में आज भी खोजने पर सैकड़ों मेगालिथ मिलते हैं जो आदिवासियों की अप्रतिम संस्कृति की पहचान कराते हैं । आदिवासी भाषा और संस्कृति पर विगत दो दशकों से भी अधिक समय से कार्यरत खड़िया आदिवासी समुदाय की चिंतक वंदना टेटे का कहना है कि 'मृतकों कि स्मृति में और अन्य महत्वपूर्ण अवसरों पर पत्थरों के स्मृति-चिह्न स्थापित करना हमारी परंपरा रही है । खड़िया समेत झारखंड के असुर, मुंडा, हो, संथाल आदि सभी आदिवासी समुदायों में आज भी यह परंपरा चली आ रही है । यह हमें अपने पूर्वजों कि स्मृतियों से जोड़ता है, समुदाय का अलिखित

डॉ. गौरी त्रिपाठी

नव जागरण के समय में स्त्रियाँ

भारत में नवजागरण को हम बड़े परिवर्तन के रूप में देखते हैं ।19वीं सदी की शुरुआत से दस्तक शुरु हो जाती है । वैसे यह सामाजिक बुनियादी परिवर्तनों के शुरुआती संदर्भ में लिया जाता है लेकिन एक मुख्य बात जो राष्ट्रीय नव जागरण के संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बन जाती है वह है स्त्री सवाल । स्त्री को मुख्य सामाजिक सवालों के केन्द्र में लाया जाता है । सबसे बड़ी बात थी कि इस नवजागरण काल में स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए आंदोलनों की शुरुआत हुई |आधुनिक शिक्षा या पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव के कारण समाज सुधारकों का ध्यान स्त्रियो की सामाजिक दशा की तरफ जाने लगा ।ऐसा बिल्कुल भी नहीं था कि आधुनिक काल अपने स्त्री के प्रति सारे पूर्वाग्रहों और दुराग्रह को छोड़ चुका था | सामाजिक कुरीतियों का विरोध और स्त्री शिक्षा को लेकर कानून बनना ऊपरी तौर पर नवजागरण आंदोलन का स्त्री मुक्ति का चेहरा तो दिखाता है लेकिन अगर गहराई से देखें तो थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ स्त्री उसी जगह पर स्थापित थी |फिर भी प्रयास काफी किया गया कि स्त्रियों की स्थितियां सुधरे ।

राजा राममोहन राय ,ईश्वर चंद्र विद्यासागर, दयानंद सरस्वती ज्योतिबा राव फुले, जीएम मालाबारी , डी. के. कर्वे, गोविंद रानाडे जैसे समाज सुधारक कहे जाने वाले व्यक्तियों ने स्त्रियों की स्थिति में बड़ा बदलाव लाने की लिए आंदोलन शुरू किया ।एजेंडे में सती प्रथा, पर्दा प्रथा,बाल विवाह और देवदासी प्रथा का विरोध, विधवा विवाह तथा स्त्री शिक्षा सरोकारों से जुड़े मुद्दे शामिल थे। नवजागरण के सुबह में सदियों से सकुचाती चली आई एक स्त्री ने शुरुआत की । इनका साथ स्त्रियों ने भी देना शुरू किया जिनमें एक महत्वपूर्ण नाम है पंडिता रमाबाई का ।सावित्रीबाई फुले ,ताराबाई शिंदे ,काशीबाई कानितकर ,आनंदीबाई जोशी, स्वर्ण कुमारी देवी ,सरला देवी घोषाल जैसे तमाम स्त्रियों स्त्रियों की नई पहचान और आवाज बन करके मुखरित होने लगी ।

यह सारी स्त्रियां एक साथ सत्ता तथा सत्तात्मक बेड़ियों को पहचान चुकी थी और उनके खिलाफ संघर्ष करने के लिए अग्रसर थी ।

पंडिता रमाबाई स्त्री शिक्षा के आंदोलन से एक लंबे समय तक जुड़ी रहीं वे कहती थीं प्रत्येक स्त्री को अपनी उन्नति के लिए अधिक से अधिक उद्यम करना चाहिए। अपने ऊपर अधिक से अधिक आत्मनिर्भर होकर के उन्होंने 1889 में शारदा सदन खोला जहां पर वह स्त्रियों को शिक्षित करती थीं और आत्मनिर्भर बनाती थी। इसमें पारंपरिक शिक्षा के साथ ही साथ आत्मनिर्भरता की कक्षाएं भी दी जाती थी जैसे सिलाई बुनाई, बागवानी, खेती और डेयरी उद्योग का भी प्रशिक्षण दिया जाता था।

ताराबाई शिंदे ने भी धार्मिक किताबों के आधार पर थोप दिये गये सामाजिक सरोकारों के खिलाफ सवाल खड़ा किया और लिखा कि "शास्त्र कर्ताओं की तिरछी नजर केवल स्त्रियों पर ही क्यों धर्म तो सबके लिए समान है जो नारी के लिए वहीं पुरुष के लिए क्यों नहीं होता? परंतु ऐसा नहीं है। यदि शास्त्र कर्ताओं ने स्त्री पुरुष दोनों के लिए समान नियम रखे होते तो प्रथम पत्नी की मृत्यु के बाद पुरुष दूसरा विवाह न कर सकता .. तुम्हें जिस प्रकार गंवार, कुरूप पत्नी पसंद नहीं, उसी प्रकार पत्नी भी गंवार, कुलहीन पति कैसे पसंद करेगी?पत्नी की भी कुछ अपेक्षाएं तो होती ही हैं।"

स्त्री पुरुष की तुलना का परंपरागत ढांचा ध्वस्त होने के बाद ही स्त्री और पुरुष समानता की बात की जा सकेगी ।भारत में नवजागरण अपने पांव पसारने लगा था धीरे-धीरे इसी समय हिंदी नवजागरण के अग्रणी भारतेंदु हरिश्चंद्र भी बंगाल के नवजागरण से काफी प्रभावित होते हैं और उत्तर भारत में स्त्रियों की दशा में काफी तब्दीली करना चाहते हैं ।चूँकि वह साहित्यकार थे इसलिए खास स्त्रियों के लिए 'बाला बोधिनी पत्रिका' प्रकाशित करते हैं ।'कवि वचन सुधा'भी निकालते हैं ,उन्हें स्त्री शिक्षा जरूरी तो लगती थी लेकिन इसके ढांचे को लेकर वे साफ नहीं थे। स्त्री को घर से जुड़े रहना अनिवार्य मानते थे। उनका मानना था " लड़कियों को भी पढ़ाइए किंतु उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती है, जिससे उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुल धर्म सीखें। पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज में शिक्षा दें"

जाहिर सी बात है भारतेंदु के इस भाषण में स्त्रियों के लिए घरेलू शिक्षा का समर्थन है ।यह मान लिया जाता है कि ज्यादा पढ़ने लिखने से स्त्रियां घरेलू नहीं रह जातीं । वे स्त्रियों की सामाजिक भागीदारी तथा घरेलू जिम्मेदारियों को एक साथ रख के देखते हैं परिणाम स्वरूप स्त्रियां अपने घरेलू जीवन का ही ज्यादा विस्तार कर पाती हैं सामाजिक जीवन से वह दूर होती चली जाती हैं । भारतेंदु हरिश्चंद्र की चिंता थी कि कहीं स्त्रियां पढ लिखकर बहुत आधुनिक ना हो जाए जिसका असर घर गृहस्थी पर दिखाई पड़ेगा ।वे विचार करते थे कि लड़कियों की शिक्षा बहुत धार्मिक चरित्र की होती है और इसका पश्चिमी ज्ञानोदय से कुछ भी लेना देना नहीं होता। अभी नैतिकता के सिद्धांतों से संबंधित धार्मिक पाठ और घरेलू कामकाज ही सिखाए जाते हैं ।मुसलमान अपनी लड़कियों को कुरान के पाठ पढ़ाते हैं इन सब बातों का उल्लेख सामाजिक क्रांति के दस्तावेज में मिलता है।

स्त्रियां आधुनिक शिक्षा जरूर ग्रहण करें लेकिन उनका उपयोग घरेलू कार्यों तक ही सीमित कर दिया जाए। शिक्षा वह हो जो स्त्रियों को जमीन से जोड़े रखें ।

भारतेंदु युगीन रचनाकारों में बालकृष्ण भट्ट कहीं ज्यादा प्रगतिशील नजर आते हैं पहली बार पितृ सत्ता का उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि हमें दरअसल पितृसत्तात्मक सोच बदलने की जरूरत है। क्योंकि उन्हें लगता है कि स्त्रियों को गुलाम माना जाता है और उनका प्रमुख उद्देश्य पुरुषों को खुश रखना बताया जाता है। बालकृष्ण भट्ट जी ने पाखंड और धार्मिक कट्टरता को स्त्री की आजादी का सबसे बड़ा खतरा बताया है । 1891 के हिंदी प्रदीप में उन्होंने एक लेख लिखा था "महिला स्वातंत्रय" उसमें लिखते हैं -"यकीन मानिए हमारी सीधी-सादी ललना समाज में शिक्षा का असर पैदा हो गया जैसा बंगाल में हो चला है,फिर ये मंदिर और देवस्थान हिंदुस्तान में एक पुरानी बात हो जाएंगे।"

स्त्री चेतना के विकास की बात ही बड़ी बात है । बालकृष्ण भट्ट स्त्रियों को खुद यह सामर्थ्य देना चाहते हैं जिससे वे अपनी आजादी को खुद तय कर सके ।

पुरुष चिंतकों के अलावा तमाम ऐसी स्त्रियां भी थी जो शिक्षा के समर्थन में खुलकर आ गई और लेख भी लिखती थी ।

हिंदी प्रदीप में 1909 के अंक में सावित्री देवी ने लिखा था "जिस देश में वीरजाया ,वीर , देशभक्त ललनाएं हो चुकी हैं, उसी देश में आजकल ऐसी मूर्खा स्त्रियां भरी पड़ी है इसका दोष हम पुरुषों को देंगी जो कि हम लोगों को हर तरह निर्बल किए हैं ।"

वे स्त्रियों को किसी अनुकरण पर चलने को नहीं कहती हैं बल्कि

तुम कहते हो
छोड़ दूँ मैं माँदर
भला ऐसे कैसे छोड़ सकता हूँ इसे मैं?
दरअसल तुम नहीं जानते
जीवन का एक-एक पल
साँस की एक-एक धडकन
आँसुओं की एक-एक बूँद
प्यार का एक-एक क्षण
या खेतों में कुदाल चलाते, हल चलाते
पसीने की एक-एक बूँद
अन्न से भरे घर की सारी पूँजी
माँदर की थापो से है बँधी"

आदिवासी समाज का यथार्थ चित्रण उसकी संस्कृति में मिलता है । प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से आदिवासी समाज जल, थल और आकाश से जुड़ा हुआ समाज है । ये सभी प्रकृति के अंग हैं । प्रकृति से जुड़ाव होने तथा उसे आत्मसात करने की जो प्रवृत्ति आदिवासी समाज में देखने को मिलती है वह किसी अन्य संस्कृति में नहीं मिलती है । आज जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं वही असल में आदिवासी संस्कृति है । मानव समुदाय में जितनी भी सामाजिक परम्पराएँ हैं वह सभी संस्कृति का हिस्सा हैं । सामाजिक परम्पराएँ हमारे सामने लौकिक और अलौकिक दो हिस्सों में आते हैं । जिसे हम लोक साहित्य कहते हैं वह उसी संस्कृति का भिन्न अंग है । आदिवासियों के यहाँ लोक साहित्य बहुत समृद्ध है । लोक साहित्य अपने मौखिक परंपरा में ही ज़्यादातर मिलता है । लोक साहित्य का मौखिक रूप में मिलना जो कि सम्पूर्ण आदिवासी समुदाय की संस्कृति को समेटे हुए है, संस्कृति की महत्ता को दर्शाता है ।

आदिवासी समुदाय सांस्कृतिक आधार पर एकसमान होता है । सांस्कृतिक एकरूपता आदिवासी समुदाय में समाज स्तर पर ही आधारित है क्योंकि इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति को जीवन में समान अवसर प्राप्त होते हैं । अधिकांश आदिवासी समाज निरक्षर होने के कारण सामाजिक परम्पराओं व प्रथाओं पर मुख्यतः निर्भर होता है और इन परम्पराओं का लिखित साहित्य न होने के कारण इनमें केन्द्रीयता बनी होती है । आदिवासी समुदाय में किसी भी कार्य को करने के लिए एक बनी बनाई परिपाटी होती है । यह नियम उनको अन्य समुदाय (गैरआदिवासी) से अलग व विशिष्ट बनाता है । आगे चलकर उनकी दैनिक दिनचर्या का हिस्सा बन जाती है जिसे हम संस्कृति के नाम से भी जानते हैं ।

आदिवासी समुदाय में संस्कृति के नाम पर परंपराओं को थोपा नहीं जाता है । वास्तव में एक आदर्श जनजीवन के लिए संस्कृति आवश्यक होती है और संस्कृति ऐसी हो जो ढोने जैसे न लगे । आदिवासी संस्कृति की यही विशेषताएँ हैं । यही कारण है कि जब कोई बाहरी समुदाय अथवा व्यक्ति अथवा सरकार जिसे आदिवासी 'दिकू' कहते हैं, उनकी संस्कृति में हस्तक्षेप करने की कोशिश करता है तो आदिवासी समुदाय उसका पुरजोर प्रतिरोध करते हैं । आदिवासी नहीं चाहता कि कोई दिकू उसकी संस्कृति व सभ्यता में हस्तक्षेप करे ।

आदिवासी कवि आदित्य कुमार मांडी नहीं चाहते हैं कि कोई उनकी संस्कृति में दखल दे । वे कहते हैं कि उन्हें उन्हीं की तरह ही रहने दे । 'आदिवासियत' कभी भी आभिजात्य वर्ग के समान नहीं हो सकता है । वह अपने आप में ही श्रेष्ठ है । अपनी कविता में लिखते हैं -

मुझे मेरी तरह ही रहने दो
मैं आदिवासी मेरा विचार आदिवासी
भाषा संस्कृति धर्म दर्शन इतिहास
भूगोल विज्ञान सब आदिवासी
तुझसे अलग है हमारी आदिवासियत ।
मैं तिलका मुरमू, बिरसा मुंडा
सिद्धों-कान्हू, चाँद भैरो, फूलो झानो
का वंशधर हूँ ।"

संस्कृति से वास्तविक तात्पर्य है जो सदियों से लोगों में परंपरा के रूप में मौजूद है । संस्कृति अच्छी भी होती है और खराब भी । किन्तु अपनी संस्कृति सभी को प्यारी होती है । यह किसी भी जनजाति या समाज की पहचान होती है । उसके द्वारा की किसी भी समाज से परिचित हुआ जा सकता है । किसी भी समाज अथवा समुदाय में संस्कृति महत्वपूर्ण स्थान रखती है । जितनी अधिक समुदाय अथवा सभ्यताएं होंगी उतनी ही संस्कृतियाँ भी होंगी । भारत के पूर्वोत्तर राज्यों की बात करें तो असम में कछारी, गारो, राभा, तिवा, मिरी, आहोम, बोरो, खामती आदि अनेक आदिवासी

(विशेष संदर्भ : आदिवासी हिन्दी कविता)

डॉ. अनीश कुमार

भारतीय आदिवासी समाज में संस्कृति का महत्व

भारत के ज़्यादातर आदिवासी समाजों में किसी भी प्रकार की सामाजिक विभिन्नता नहीं पायी जाती । वास्तव में आदिवासी समाज मुख्यतः सामूहिकता की भावना पर आधारित होता है । रक्त संबंध एवं वैवाहिक संबंध आदिवासी समुदाय के सभी सदस्यों को एक समान स्तर में संगठित कर देते हैं । इस समानता में विवाह एवं रक्त संबंधों में एकरूपता आ जाती है । इस प्रकार बन्धुत्व संबंध एकता कायम करने का एक महत्वपूर्ण अंग है और विभिन्न भागों में आदिवासियों के बीच परस्पर एक दूसरे के साथ जो लेने-देन रहता है, वे एकता की भावना को जागृत करते है । आदिवासी समाज की यह संस्कृति उनकी संप्रभुता को निर्देशित करती है ।

प्रायः भारत के सभी आदिवासी समाज में सभी सदस्यों को उत्पादन के साधनों का समान रूप से उपयोग करने का पूर्ण अधिकार होता है । इस कारण इन समाजों में शोषित वर्ग और शोषण करने वाले वर्ग जैसे वर्ग भेद नहीं मिलते है । जब आदिवासी आन्तरिक रूप से विभक्त होती है तो उसके भिन्न-भिन्न मान सामूहिक रूप ये इन साधनों के स्वामित्व का अधिकार प्राप्त करते हैं न कि व्यक्तिगत रूप से बल्कि इन ग्रामसभाओं के सभी सदस्य समान रूप से अधिकारों का उपयोग करते हैं । इन कारणों से ही पता चलता है कि आदिवासी समाज में न तो कोई मालिक होता है, न कोई श्रमिक । इस तरह से यह कहा जा सकता है कि आदिवासी समाज में सामुदायिक आर्थिक व्यवस्था पायी जाती है । यह अर्थव्यवस्था आदिवासी संस्कृति की आधार होती है । इसमें सब सदस्य समान होते है और समाज में वर्ग विभिन्नता नही पायी जाती है ।

आदिवासी समुदाय में 'माँदर' का विशेष महत्व होता है । यह एक प्रकार का वाद्य यंत्र है जो आदिवासियों के किसी भी सांस्कृतिक उत्सव पर बजाया जाता है । कवि कहता है कि जो माँदर मेरे साँस से जुड़ी हुई हो उसे भला हम कैसे छोड़ दे । कविता के माध्यम से आदिवासी समाज में संस्कृति का महत्व समझ सकते हैं -

स्त्री अपनी स्वाभाविक विशेषताओं को लेकर के भी आगे बढ़ सकती है। अपने अपने तरीके से उस समय सभी स्त्रियों को मुक्ति के रास्ते पर लाना चाहती थे ।

"बहिनों !आओ हम सब मिल अविद्या के अंधकार को विद्या रूपी दीपक से दूर करें और सुशिक्षिता बनकर पूर्ववत अहल्या, सीता, गार्गी, द्रोपदी, तारा, महारानी लक्ष्मीबाई आदि का अनुकरण कर एक बार इस गिरे भारत को फिर उठाने का यत्न करें ।"

यह बात सौ फीसदी सच है कि जब हम स्त्रियों की आजादी की, स्वतंत्रता की बात करते हैं तो अतीत की तरफ अपने कामयाबी और स्वतंत्रता से चकित कर देने वाली स्त्रियों को याद करते हैं। हिंदी साहित्य के आरंभिक उपन्यास और कहानियों का भी एक मुख्य विषय हुआ करता था ।

1870 में लिखी गई कहानी " देवरानी जिठानी" में पंडित गौरीदत्त व्यास ने स्त्री शिक्षा पर बल दिया है उन्होंने अपनी कहानी में बार-बार बताने की कोशिश की है कि कैसे शिक्षित स्त्री एक साथ रिश्ते, घर और समाज को सदैव आगे की तरफ ले जाती है ।1887 में श्रद्धा राम फिल्लौरी का उपन्यास "भाग्यवती" स्त्री शिक्षा का सीधे-सीधे समर्थन करता है। वे शिक्षा को हर हाल में जरूरी मानते हैं लेकिन इन दोनों ही कहानी और उपन्यासों में स्त्री शिक्षा के साथ-साथ पारंपरिक शिक्षा का ध्यान ज्यादा रखा गया है। औरत पढ़े तो लेकिन परिवार को साथ ले कर के चले। त्याग के घोड़े पर हमेशा चढ़ी रहे ,संस्कारों का त्याग ना करें ,संस्कृति की बराबर उसे चिंता रहे। ये दोनों बातें अंतर्विरोध पैदा करती हैं क्या कीजिएगा ?हमारा भारतीय समाज दर्शन कई-कई आंतरिक विसंगतियों से भरा होता है जिसमें थोड़ी धार्मिकता, थोड़ी सामाजिकता, थोड़ी पितृसत्ता अलग-अलग अपना काम करती रहती है ।

स्त्री पढ़ लिखकर कुछ भी हो लेकिन उसका होना उसका अपना होना नहीं बल्कि परिवार के लिए होना ज्यादा जरूरी है ।उसकी सार्थकता परिवार के लिए जीने मरने में है। स्त्री शिक्षा पढ़ने तक सीमित रहे, वह अपने आप निर्णय ले सके आगे बढ़ सके ,सत्ता की जड़ों पर प्रहार करने लगे ऐसी शिक्षा नहीं चाहिए थी।

यह वह दौर था जब स्त्रियां सामंती समाज में जकड़ी हुई थी लेकिन लिखती थीं , लिखने के बाद भी उन्हें इतना साहस नहीं होता था कि अपना नाम दे सकें।" सीमंतनी उपदेश" जैसी स्त्री विमर्श की महत्वपूर्ण किताब इसी समय लिख तो दी जाती लेकिन लेखिका अपना नाम देने का साहस नहीं जुटा पाती है हम उसे अज्ञात हिंदू महिला के नाम से जानते हैं। पितृसत्ता और सामंतवादिता का आलम यह था कि अपना नाम नहीं दे सकती थी लेकिन अपनी बात कहने का साहस भी नहीं छोड़ सकती थी ।

स्त्री को अपने भावनाओं को व्यक्त करने की पूरी आजादी तो कहीं नहीं है। समाज में चला आ रहा पुरुष वर्चस्व महज स्त्री शिक्षा से नहीं तोड़ा जा सकता है, उसके लिए चली आ रही परंपराओं ,रूढ़ियों में आंतरिक तब्दीली करनी पड़ती है जो बिल्कुल भी आसान नहीं था। स्त्री आजादी चाहती थी आज भी वह आजादी चाहती है। जिस पुरुष के लिए आजादी का कोई मतलब नहीं होता जिंदगी भर औरत उसी के लिए संघर्ष करती रहती है ।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती पत्रिका में एक निबंध लिखा था उसका एक अंश उदाहरण के लिए प्रस्तुत है जिससे हम समझ सकते हैं कि आजादी का क्या रंग था -"सुनिए जनाब, मेरे और आपके अधिकार बराबर हैं ।मैं भी स्वाधीन, आप भी स्वाधीन। एक दिन मैं चूल्हा चौका करूं, एक दिन आप। एक दिन मैं आपकी सेवा करूं एक दिन आप मेरी सेवा करें। अथवा यदि वह यह कह बैठे कि मुझे संतान उत्पन्न करने से इनकार है तो बताइए ऐसी स्वाधीनता का क्या नतीजा होगा ?

यह डर कमोबेश पूरे समाज के अंदर बैठा हुआ था। महावीर प्रसाद द्विवेदी स्त्री शिक्षा के समर्थकों में से थे। अपने लेखों के माध्यम से बार-बार स्त्री शिक्षा पर जोर दिया करते थे।अब यह अलग बात है कि स्त्री शिक्षा की उपयोगिता उन सभी को डराती भी थी।

नवजागरण और भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन का दौर अग्रसर हो ही रहा था और इसी बीच आते हैं महात्मा गांधी जिन्हें हम मानते हैं कि वे स्त्री की आजादी और उसकी शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। अपने कार्यक्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करते थे, अनुपालन करते थे। महात्मा गांधी ने स्त्रियों को घर से बाहर राजनीतिक माहौल में भी हिस्सेदारी तय करने के लिए कहा और यही वजह है कि हमें महात्मा गांधी के साथ स्त्रियां भी दिखाई पड़ती हैं। यह महात्मा गांधी का ही जगाया हुआ आत्मविश्वास था स्त्रियों के अंदर कि स्त्रियों ने अपनी उदासीनता

को त्याग करके आगे बढ़ना शुरू कर दिया ।गांधीजी की विचारधारा थी कि भारत तब तक पूरा आजाद नहीं हो सकता है जब तक देश की आधी आबादी यानी स्त्री जाति पीछे रहेगी या पीछे अवस्था में रहेगी। हिंदू मुस्लिम एकता सुधार के साथ-साथ स्त्री सवालों को भी राष्ट्रीय आंदोलन के एजेंडे में शामिल करते हैं । 1921 के यंग इंडिया में लिखते हैं- " आदमी जिन बुराइयों के लिए जिम्मेदार है उनमें सबसे ज्यादा घटिया बीभत्स और पाशविक बुराई उसके द्वारा मानवता के अर्धांग अर्थात स्त्री जाति का दुरुपयोग है। वह अबला नहीं, स्त्री है। स्त्री जाति पुरुष जाति की अपेक्षा अधिक उद्दात है। आज भी स्त्री त्याग, मूक दुख-सहन , विनम्रता, आस्था और ज्ञान की प्रतिमूर्ति है। स्त्री को चाहिए कि वह खुद को पुरुष के भोग की वस्तु मानना बंद कर दे। इसका इलाज पुरुष की अपेक्षा खुद स्त्री के हाथों में ज्यादा है। उसे पुरुष की खातिर जिसमें पति भी शामिल है सजने से इंकार कर देना चाहिए। अपनी मौज मस्ती की गुलामी और पुरुष की गुलामी छोड़ो"

गांधी स्त्रियों को राजनीतिक हस्तियों और देशभक्तों के बराबर महत्व देते थे। कहीं-कहीं पर तो स्त्रियों को इन से भी ज्यादा ऊंचा दर्जा हासिल था। यह तो सच है कि नवजागरण के दौर में स्त्री जो बदलती है या राजनैतिक और सामाजिक हिस्सेदारी तय करती है तो इन सब के पीछे श्रेय महात्मा गांधी को ही जाता है।

इतनी बातों के बावजूद नवजागरण काल का मूल स्वर स्त्रियों के संदर्भ में मुक्ति की बात करने वाला नहीं था सुधारवादी था इसलिए लंबी लंबी बातों और बहसों के बावजूद पितृसत्तात्मक व्यवस्था टूटती नहीं है थोड़ी ढीली जरूर हो जाती है। बात वहीं रह जाती है स्त्री को बराबरी का दर्जा नहीं मिल पाता है।

भारतीय नवजागरण में स्त्री अपने समाज और संस्कृति के प्रतिनिधि के तौर पर देखी जाती है । उसी के सिर पर सभ्यता और संस्कृति का जिम्मा है इसलिए जब सुधार लाने के लिए आंदोलन होते थे, कई -कई बार उन्हें भारतीय संस्कृति के लिए खतरनाक मान लिया जाता था । जैसे सती प्रथा के उन्मूलन के प्रयासों से ज्यादा कोलकाता के हिंदू पुनरुत्थान वादियों द्वारा द्वारा उसका विरोध था। एक याचिका में ऐसा कहा गया था -"हम यह बताना चाहते हैं कि उन तथाकथित हिंदुओं के प्रतिनिधियों के विचार और भावनाएं ना केवल त्रुटिपूर्ण और तथ्य से परे हैं बल्कि अगर उनके सुझाव के आधार पर ऐसा कोई प्रस्ताव पास किया गया तो इसे हिंदू धर्म और रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप माना जाएगा आदिकाल से ही हिंदू धर्म की मर्यादाओं के अनुसार हिंदू विधवाएं अपनी खुशी और अपने मृत पति की आत्मा की शांति के लिए खुद को जलाकर जो बलिदान देती थी उसे सही कहा जाता है ।यह मात्र पवित्र कर्तव्य ही नहीं बल्कि अपने धर्म के सिद्धांतों के प्रति उस स्त्री की सद्भावना का द्योतक है ।अतः हमारी विनम्र प्रार्थना है कि सती के मामले में इस प्रकार का हस्तक्षेप न केवल अनुचित है बल्कि असहनीय भी है सती का मामला पूर्णता अंतरात्मा की आवाज पर आधारित है हम नहीं समझते कि इसमें हस्तक्षेप का सरकार का मकसद पूरा हो जाएगा"

यह पढ़ने के बाद कुछ बचा नहीं रह जाता यह जानने के लिए कि सती प्रथा किन परिस्थितियों में और कैसे संस्कृति को बचाने का वाहक बना था जिसकी जिम्मेदारी सिर्फ और सिर्फ स्त्री की थी। स्त्रियों की चिंता कहीं भी मूल में नहीं थी वह तो इसलिए चिंतित रहते थे कि स्त्रियों की दशा थोड़ी सुधरेगी तो उससे देश और राष्ट्र सुधरेगा। स्त्रियों को नर्क से निकालना उनका उद्देश्य नहीं था बल्कि राष्ट्र को आगे बढ़ाना था। अब चाहे मुद्दा बाल विवाह का हो यौन उत्पीड़न का हो या बलात्कार का । स्त्री महत्वपूर्ण मानी जाती थी अपने नारी शक्ति की अवधारणाओं में राष्ट्र माता के रूप में महाकाली के रूप में जो लोगों की रक्षा कर सकें,कष्ट सहने वाली मां के रूप में और ज्यादा से ज्यादा उसका मातृ रूप ही स्वीकार्य था | सामान्य स्त्री को तवज्जो नहीं थी। स्त्रियों के लिए जो आंदोलन चलाया जाते थे, उसमें बार-बार मां की भूमिका तय की जाती थी । जाहिर है इन सब बातों पर पितृसत्ता का भयानक दबाव हुआ करता था | यह सहज ही माना जाता था कि स्त्री के जीवन की सार्थकता आदर्श गृहणी बनने में है |उसके जीवन की पूरी तैयारी और भूमिका अपने को घर गृहस्थी में खपा देने की होनी चाहिए इसलिए नवजागरण काल के दौर में स्त्री शिक्षा का जो पैमाना तय हुआ था और उसके जो लक्ष्य बनाए गए थे उससे तो यही पता चलता है कि स्त्री अंततः घर को ही देखें | नवजागरण कालीन और स्वाधीनता आंदोलन में शामिल लगभग सभी विचारक यह स्वीकार करते थे कि स्त्रियों को पुरुषों की तरह शिक्षित ना किया जाए बल्कि कुछ इस प्रकार से किया जाए कि उनकी घरेलू भूमिका ज्यादा सार्थकता के साथ नजर आए । लाला लाजपत राय और लालचंद का नाम हम यहां ले सकते हैं ।वे स्त्रियों के लिए केवल अक्षर ज्ञान महत्वपूर्ण मानते थे।

एक नए भाषिक सर्वेक्षण में दुनिया की सौ भाषाओं की सूची जारी की गयी और उसमें हिंदी को चौथा स्थान दिया गया। अब तक हिंदी को दूसरे स्थान पर रखा जाता था। पहले स्थान पर चीनी थी। यह परिवर्तन इसलिए हुआ की सौ भाषाओं की इस सूची में भोजपुरी, अवधी, मैथिली, मगही, हरियाणवी और छत्तीसगढ़ी को स्वतंत्र भाषा का दर्जा मिला। हिंदी को खण्ड-खण्ड करके देखने की यह अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति है। आज भी यदि हम इनके सामने अंकित संख्याओं को हिंदी बोलने वालों की संख्या में जोड़ दें तो हिंदी फिर दूसरे स्थान पर पहुंच जाएगी। किन्तु यदि उक्त भाषाओं के अलावा राजस्थानी, ब्रजी, कुमायूंनी-गढ़वाली, अंगिका, बुंदेली जैसी बोलियों को भी स्वतंत्र भाषाओं के रूप में गिन लें, तो निश्चित रूप से हिंदी सातवें-आठवें स्थान पर पहुंच जाएगी और जिस तरह से हिंदी की उक्त बोलियों को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल करने की मांग जोरों से की जा रही है यह घटना यथार्थ बन जाएगी। भोजपुरी को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल करने वाला बिल पेश होना ही था, यदि सत्र कोयला घोटाले की भेट न चढ़ता तो हिंदी के खूबसूरत घर का एक हिस्सा और बंट गया होता।

भोजपुरी को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल करने की मांग समय-समय पर संसद में होती रही है। कई सांसदों ने समय-समय पर यह मुद्दा उठाया है। बहरहाल, मामला सिर्फ भोजपुरी को संवैधानिक मान्यता देने का नहीं है। मध्यप्रदेश से अलग होने के बाद छत्तीसगढ़ ने 28 नवंबर 2007 को अपने राज्य की राजभाषा छत्तीसगढ़ी घोषित की और विधान सभा में प्रस्ताव पारित करके उसे संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल करने की मांग की। यही स्थिति राजस्थानी की भी है। हकीकत यह है कि जिस राजस्थानी को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल करने की मांग जोरों से की जा रही है उस नाम की कोई भाषा वजूद में है ही नहीं। राजस्थान की 74 में से सिर्फ 9 (ब्रजी, हाड़ौती, बागड़ी, ढूंढाड़ी, मेवाड़ी, मेवाती, मारवाड़ी, मालवी, शेखावटी) बोलियों को राजस्थानी नाम देकर संवैधानिक दर्जा देने की मांग की जा रही है। बाकी बोलियों पर चुप्पी क्यों? इसी तरह छत्तीसगढ़ में 94 बोलियां हैं जिनमें सरगुजिया और हालवी जैसी समृद्ध बोलियां भी हैं। छत्तीसगढ़ी को संवैधानिक दर्जा दिलाने की लड़ाई लड़ने वालों को इन छोटी-छोटी उप बोलियां बोलने वालों के अधिकारों की चिन्ता क्यों नहीं है? मैथिली तो पहले ही शामिल हो चुकी है। फिर अवधी और ब्रजी ने कौन सा अपराध किया है कि उन्हें आठवीं अनुसूची में जगह न दी जाए जबकि उनके पास रामचरितमानस और पद्मावत जैसे ग्रंथ हैं? हिंदी साहित्य के इतिहास का पूरा मध्य काल तो ब्रज भाषा में ही लिखा गया। इसी के भीतर वह कालखण्ड भी है जिसे हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग (भक्तिकाल) कहते हैं।

अस्मिताओं की राजनीति करने वाले, जो भाषा और संस्कृति के नाम पर भेद खड़े करना चाहते हैं। बोलियों को संवैधानिक मान्यता दिलाने में वे साहित्यकार सबसे आगे हैं जिन्हें हिंदी जैसी समृद्ध भाषा में पुरस्कृत और सम्मानित होने की उम्मीद टूट चुकी है। वस्तुत: साम्राज्यवाद की साजिश हिंदी की शक्ति को खण्ड-खण्ड करने की है क्योंकि बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से हिंदी, दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी भाषा है। इस देश में अंग्रेजी के सामने सबसे बड़ी चुनौती हिंदी ही है। इसलिए हिंदी को कमजोर करके इस देश की सांस्कृतिक अस्मिता को, इस देश की रीढ़ को आसानी से तोड़ा जा सकता है। भाषिक साम्राज्यवाद की यही साजिश है। जिस भोजपुरी, राजस्थानी या छत्तीसगढ़ी का कोई मानक रूप तक तय नहीं है, जिसके पास गद्य तक विकसित नहीं हो सका है उस भाषा को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल कराकर उसमें मेडिकल और इंजीनियरी की पढ़ाई की उम्मीद करने के पीछे की धूर्त मानसिकता को आसानी से समझा जा सकता है।

❑ **सहायक प्राध्यापक,** अस्थायी
हिंदी

6. घर माँ नाहीं दाने। अम्मा चलीं भुनाने।
7. जग जीतेव मोरी रानी। बरु ठाढ़ होय तो जानी।
8. जस मतंग तस पादन घोड़ी। बिधना भली मिलाई जोड़ी।
9. जबरा मारै, रोवन न देय।
10. जाड़ जाय रुई कि जाड़ जाय दुई।
11. ठाढ़ा तिलक मधुरिया बानी। दगाबाज कै यहै निसानी।(जो बाहर से अच्छा बोलते हैं और अंदर बुरा सोचते हैं)
12. लियाचरित्र न जानै कोय। खसम मारि कै सत्ती होय।
13. दिये न बिधाता, लिखे न कपार।
14. धन के पन्द्रा मकर पचीस। जाड़ा परै दिना चालीस।
15. नोखे घर का बोकरा। खरु खाय न चोकरा॥
16. नोखे गाँवैं ऊँट आवा। कोउ देखा कोऊ देखि न पावा।
17. बहि बहि मरैं बैलवा, बाँधे खाँय तुरंग।
18. बरसौ राम जगै दुनिया। खाय किसान मरै बनिया।
19. बूढ़ सुआ राम राम थोरै पढ़िहैं।
20. भरी जवानी माँझा ढील।
21. लरिकन का हम छेड़तेन नाहीं, ज्वान लगैं सग भाई।
    बूढ़ेन का हम छोड़तेन नाहीं चाहे ओढ़ैं सात रजाई।
22. सूमी का धन अइसे जाय। जइसे कुंजर कैथा खाय। (कहते हैं कि हाथी समूचे कैथे के अन्दर का गूदा खाकर समूचे खोखले कैथे का मलत्याग करता है।)
23. सोनरवा की ठुक ठुक, लोहरवा की धम्म।
24. हिसकन हिसकन नौनिया हगासी।
25. उठा बूढ़ा साँस ल्या, चरखा छोड़ा जांत ल्या। (यह कहावत तब कही जाती है जब इतनी व्यस्तता हो कि साँस लेने कि फुर्सत भी ना हो।)
26. बाप पदहिन ना जाने, पूत शंख बजावे। (जब पुत्र किसी कार्य को पिता से अच्छा करने लगे तब इसका प्रयोग करते है)
27. बाप न मारेन फड़की, बेटवा तीरनदाज । (जब पुत्र किसी कार्य को पिता से अच्छा करने लगे तब इसका प्रयोग करते है)
28. जहां जाये दूला रानी, उहाँ पड़े पाथर पानी। (यह कहावत ऐसे व्यक्ति के लिए प्रयोग की जाती है जिसके जाते ही कोई कार्य बिगड़ने लगता है।)
29. खावा भात, उड़वा पांत। (भात=पकाया हुआ चावल; पांत=पंगत, यह कहावत उसके लिए प्रयोग की जाती है जो फक्कड़ी किस्म का आदमी हो/जो अपनी किसी चीज की चिंता ना करता हो।)
30. तौवा की तेरी, खापडिया की मेरी। (तौवा=तवा; खापडिया=मिट्टी की खपड़ी, इसका अर्थ है की सब ख़राब वस्तुएं तुम्हारी और सारी अच्छी मेरी)
31. सास मोर अन्हरी, ससुर मोर अन्हरा, जेहसे बियाही उहो चक्चोन्हरा, केकरे पे देई हम धारदार कजरा। (चक्चोन्हरा=जिसकी आँखें बार बार स्वतः ही बंद होती हो; धारदार= कँटीली। यह कहावत तब प्रयोग की जाती है जब कोई अच्छी वस्तु किसी को देना चाहें पर कोई उसका हक़दार ना मिले।)
32. मोर भुखिया मोर माई जाने, कठवत भर पिसान साने। (कठवत= आटा गूंथने का बर्तन; पिसान= आटा। बच्चे कि भूख केवल माँ ही समझ सकती है।)
33. जैसे उदई वैसे भान, ना इनके चुनई ना उनके कान। (दो मूर्ख एक सा व्यवहार करते हैं।)
34. पैइसा ना कौड़ी , बाजार जाएँ दौड़ी। (साधन हीन होने पर भी ख़याली पुलाव पकाना।)
35. जेकरे पाँव ना फटी बेवाई , ऊ का जाने पीर पराई। (जिसको कभी दुःख ना हुआ हो वो किसी की पीड़ा क्या जाने।)
36. गुरु गुड ही रह गयेन, चेला चीनी होई गयेन। (शिष्य गुरु से भी अधिक सफल हो गया।)
37. सूप बोलै त बोलै, चलनी का बोलै जे मा बहत्तर छेद। (एक बुरे व्यक्ति द्वारा दूसरे बुरे व्यक्ति को दोषी ठहराना।)
38. फूहर चली त नौ घर हाला
39. मन मोर महुवा चित्त भुसैले
40. पड़ी बुढ़िया पड़ी रहे चरख मरख बुझत रहे (जो खुद कुछ काम नहीं करते बस बोलते रहते हैं)
41. जैसे कंता घर रहे तैसे रहे विदेश

लाला लाजपत राय ने एक जगह पर लिखा है" अतीत से लेकर वर्तमान तक मेरी यह दृढ़ मान्यता रही है कि पुरुषों में शिक्षा के प्रसार की सख्त तथा महत्वपूर्ण जरूरत है परंतु स्त्रियों की शिक्षा उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कोई सहयोग दें यह आवश्यक नहीं। लड़कियों की शिक्षा का चरित्र लड़कों की शिक्षा से भिन्न होना चाहिए। हिंदू लड़की को हिंदू लड़कों से भिन्न प्रकृति के कार्य करने होते हैं अतः मैं उस व्यवस्था को प्रोत्साहित नहीं करूंगा जो उन्हें राष्ट्रीय उनके राष्ट्रीय गुणों से वंचित कर दे हम अपनी लड़कियों को ऐसे शिक्षा नहीं देंगे जो उनकी सोच को बदल दे।" लड़कियां बदल जाएं, यह भी स्वीकार कर लिया जाएगा लेकिन उनकी सोच ना बदले, वह चाहे जितनी तरक्की कर ले लेकिन एहसास रहे वे पुरुषों से कमतर ही हैं ।"

इस बहस में राष्ट्रवादी आंदोलन के दौर की स्त्री विचारकों ने भी पारंपरिक शिक्षा को ज्यादा तवज्जो दिया एनी बेसेंट जो कि उस दौर की प्रगतिशील विचारकों में आती थी, भारतीय स्त्रियों के लिए पारंपरिक शिक्षा का ही समर्थन कर रही थी - "स्त्री शिक्षा के राष्ट्रीय अभियान को वास्तविक अर्थों में राष्ट्रीय स्तर का होना चाहिए, इसमें स्त्रियों की भूमिका की प्राचीन हिंदू धारणा का समावेश होना चाहिए ना कि अधकचरे आधुनिक विचारों का जो भारत की शालीनता और अच्छे तौर-तरीकों वाली शिक्षित पत्नियों और माताओं की बुद्धि को भ्रष्ट कर दे। आज भारत में बच्चों को पढ़ाने वाली शिक्षिकाओं की, पत्तियों को उचित परामर्श देने वाली सहगामी की, बच्चों और बीमारों की तीमारदारी करने वाली सुयोग्य नर्सों की आवश्यकता है ना कि वैसी स्त्री स्नातकों की जो केवल बाहरी कामकाज के लिए उपयोगी हों ।"

राष्ट्रीय आंदोलनों में स्त्री ने प्रवेश तो प्राप्त कर लिया लेकिन उसकी अपनी पारंपरिक भूमिका वहीं की वहीं बनी रही। राष्ट्रीय आंदोलन में स्त्रियों की मौजूदगी एक प्रतिनिधि के तौर पर होती थी ,वह लंबे समय तक जुलूस में शामिल नहीं हो सकती थी,घरने पर नहीं बैठ सकती थी और जेल जाने की भी उन्हें अनुमति नहीं थी। वह घर में बैठकर चरखा काते, अपने बच्चों में राष्ट्रीय चेतना का संचार करें। यह जिम्मेदारी उनके हिस्से में ज्यादा थी। कहने का अर्थ यह हुआ कि स्त्रियां राष्ट्रीय आंदोलनों का हिस्सा तो जरूर थी लेकिन पारंपरिक भूमिकाओं से मुक्ति संभव नहीं थी।

स्त्रियों चांद पर भले पहुंच जाएं लेकिन पृथ्वी नामक ग्रह पर घरेलू कामों से उन्हें मुक्ति नहीं है। स्त्री कुछ भी करे लेकिन वह परिवार और घरेलू कार्यों की उपेक्षा ना कर पाए। अपना अलग कोई अस्तित्व बनाने के बारे में तो कतई ही ना सोचे । तमाम स्त्रीवादी स्त्रियों ने यह स्वीकार किया कि आर्थिक निर्भरता का होना सबसे जरूरी है जो आज के जीवन में शत प्रतिशत सही नहीं है। औरत का आर्थिक रूप से मजबूत होना ही उनकी मुक्ति का प्रमाण नहीं है। महज एक खिड़की खुलती है दुनिया को देखने के लिए जबकि पूरा परिदृश्य अभी बाकी है। जब भी हम नवजागरण कालीन आंदोलनों के योगदान और उसमें निहित अंतर्विरोध की बात करें तो हमें बिल्कुल भी नहीं भूलना चाहिए कि वह एक संक्रमण का दौर था, संक्रांति का काल था। वर्षों से चली आ रही सामंती और पितृसत्ता के दमन की शुरुआत भर हुई थी। जाहिर सी बात है कि हिंदी पट्टी के लिए तो सबसे कठिन समय था क्योंकि यहां की आबोहवा में सामंती संस्कृति कूट-कूट कर भरी हुई थी। स्त्रियों को लेकर के चला आ रहा यह जो अंतर्विरोध है यह पूरे युग पर हावी था। किसी एक घर या व्यक्ति की बात नहीं थी। जितने भी विचारक नवजागरण काल में थे, वह एक अलग ढंग से आधुनिक भारतीय स्त्री को रखना चाहते थे। वह चाहते थे स्त्रियां मुक्त हों, आधुनिक बनें लेकिन उसकी बुनावट उन्हें पश्चिमी स्त्रियों से अलग चाहिए थी। अंतर्विरोध भी यहीं से शुरू हो जाते हैं फिर भी हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि भारतीय नवजागरण ने स्त्रियों के जीवन में कुछ आधारभूत परिवर्तनों की मशाल तो जला ही दी थी ।एक आधार तो दे ही दिया था जिस पर आज की स्त्रियां बाकायदा चल रही हैं। आज की स्त्री बदल चुकी है , वह नवजागरण काल की स्त्री नहीं है। वह अपने को सिर्फ घर और परिवार में ही खपाती नहीं है बल्कि अपने अधिकारों के लिए भी लड़ती है। उस दौर में स्त्रियों ने अपने संघर्ष को देश के संघर्ष में ,देश की स्वतंत्रता के संघर्ष में, मिला दिया था। वह दो स्तरों पर लड़ाई लड़ रही थीं- अपनी मुक्ति के लिए और देश की मुक्ति के लिए । लेकिन अंदर ही अंदर उनकी यह मुक्ति उनके खुद के जीवन के लिए थी। हमारे देश की स्त्री बहुत समृद्ध हुई है लेकिन कुछ सवाल जस के तस हैं जिन पर लगातार वाद-विवाद और संवाद करके हम आगे बढ़ रहे हैं।

❑ सह-आचार्य, हिंदी

डॉ. मुरली मनोहर सिंह

जुलूस : एक पुनर्पाठ

स्वतन्त्रता के समय विभाजन की त्रासदी भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी त्रासदियों में से एक है. समन्वय की विराट चेतना में सदियों तक तमाम आलोड़न–विलोड़न के उपरान्त निर्मित अडिग आस्था अचानक से उस समय अस्थिर हो गयी थी. सन १८५७ ई. में संयुक्त रूप से बिना हिन्दू मुसलमान का भेद किये जो क्रांति का बिगुल बजा था वह मात्र नब्बे वर्षों के अंतराल में अंग्रेजों की कुटिल चाल की भेंट चढ़ चुका था. अंग्रेज जा तो चुके थे लेकिन किसी कालनेमि की तरह अपना अंश छोड़ चुके थे. दाग-दाग उजाला और सबगजीदा सहर लिए आजादी का सूरज निकला था. कभी न मिटने वाली अपनी हस्ती का गर्व करने वाला भारत दौरे जहाँ के दुश्मनों से नहीं अपनों से टूट रहा था, दो टुकड़ों में बंट रहा था. भारत और पाकिस्तान. सदियों से साझी विरासत का साक्षी महामानव समुद्र यह महादेश धार्मिक कट्टरता एवं अवसरवादी राजनीति की भेंट चढ़ चुका था. जाहिर है इसकी कीमत हर सामान्य देशवासी को चुकानी पड़ी थी लेकिन दोनों देशों के ऐसे नागरिक जिन्हें विस्थापन का सामना करना पड़ा उन्हें अपना सर्वस्व गंवाना पड़ा था.

खैर ! जो घटित होना था वो हो चुका था. मनुष्य की जिजिविषा शक्ति सबसे प्रबल होती है. यदि यह समूह में हो तो अत्यंत दुर्दम समय में भी नए रास्ते की तलाश कर ही लेती है. विस्थापन का दंश झेल रही तत्कालीन भारत की जनता विसंगतियो के बावजूद एक नए भारत के निर्माण की आधारशिला रख रही थी. फणीश्वरनाथ रेणु ने अपने जुलूस उपन्यास में इस पूरी प्रक्रिया पर एक विहंगम दृष्टिपात किया है.

उपन्यास का कथानक पूर्वी पाकिस्तान से विस्थापित होकर भारत आये शरणार्थियों के इर्द- गिर्द घूमता है जिसमें स्वातंत्र्योत्तर भारत का द्वंद्व उभरकर सामने आता है. उदाहरण के तौर पर निम्नलिखत पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं- “चौदह वर्ष हुए स्वराज्य के. लगता है कल की बात हो. जुलूस की याद ताज़ा है अभी भी. दो-दो बार आम चुनाव हो चुके हैं. देश में बड़े बड़े काम हो रहे हैं. ब्लाक, कम्युनिटी हाल, बीडीओ, व्ही एस डब्लू, सोसल आर्गनाइजर, एम ओ, पी ओ बहुत सारे 'ओ' वाले शब्दों का प्रचलन हो गया है. हर मैट्रिक फेल नौजवान राजनीति में दाखिल हो गया है और प्रत्येक

शौरसेनी से तथा भोजपुरी की मागधी प्राकृत से हुई है। अवधी की स्थिति इन दोनों के बीच में होने के कारण इसका अर्धमागधी से निकलना मानना उचित होगा। खेद है कि अर्धमागधी का हमें जो प्राचीनतम रूप मिलता है वह पाँचवीं शताब्दी ईसवी का है और उससे अवधी के रूप निकालने में कठिनाई होती है। पालि भाषा में बहुधा ऐसे रूप मिलते हैं जिनसे अवधी के रूपों का विकास सिद्ध किया जा सकता है। संभवत: ये रूप प्राचीन अर्धमागधी के रहे होंगे।

प्राचीन अवधी साहित्य की दो शाखाएँ हैं : एक भक्तिकाव्य और दूसरी प्रेमाख्यान काव्य। भक्तिकाव्य में गोस्वामी तुलसीदास का "रामचरितमानस" (सं. १६३१) अवधी साहित्य की प्रमुख कृति है। इसकी भाषा संस्कृत शब्दावली से भरी है। "रामचरितमानस" के अतिरिक्त तुलसीदास ने अन्य कई ग्रंथ अवधी में लिखे हैं। इसी भक्ति साहित्य के अंतर्गत लालदास का "अवधबिलास" आता है। इसकी रचना संवत् १७०० में हुई। इनके अतिरिक्त कई और भक्त कवियों ने रामभक्ति विषयक ग्रंथ लिखे।संत कवियों में बाबा मलूकदास भी अवधी क्षेत्र के थे। इनकी बानी का अधिकांश अवधी में है। इनके शिष्य बाबा मथुरादास की बानी भी अधिकतर अवधी में है। बाबा धरनीदास यद्यपि छपरा जिले के थे तथापि उनकी बानी अवधी में प्रकाशित हुई। कई अन्य संत कवियों ने भी अपने उपदेश के लिए अवधी को अपनाया है।

प्रेमाख्यान काव्य में सर्वप्रसिद्ध ग्रंथ मलिक मुहम्मद जायसी रचित "पद्मावत" है जिसकी रचना "रामचरितमानस" से ३४ वर्ष पूर्व हुई। दोहे चौपाई का जो क्रम "पद्मावत" में है प्राय: वही "मानस" में मिलता है। प्रेमाख्यान काव्य में मुसलमान लेखकों ने सूफी मत का रहस्य प्रकट किया है। इस काव्य की परंपरा कई सौ वर्षों तक चलती रही। मंझन की "मधुमालती", उसमान की "चित्रावली", आलम की "माधवानल कामकंदला", नूरमुहम्मद की "इंद्रावती" और शेख निसार की "यूसुफ जुलेखा" इसी परंपरा की रचनाएँ हैं। शब्दावली की दृष्टि से ये रचनाएँ हिंदू कवियों के ग्रंथों से इस बात में भिन्न हैं कि इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की उतनी प्रचुरता नहीं है।

प्राचीन अवधी साहित्य में अधिकतर रचनाएँ देशप्रेम, समाजसुधार आदि विषयों पर और मुख्य रूप से व्यंग्यात्मक हैं। कवियों में प्रतापनारायण मिश्र, बलभद्र दीक्षित "पढ़ीस", वंशीधर शुक्ल, चंद्रभूषण द्विवेदी "रमई काका", गुरु प्रसाद सिंह "मृगेश" और शारदाप्रसाद "भुशुंडि" विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रबंध की परंपरा में "रामचरितमानस" के ढंग का एक महत्वपूर्ण आधुनिक ग्रंथ द्वारिकाप्रसाद मिश्र का "कृष्णायन" है। इसकी भाषा और शैली "मानस" के ही समान है और ग्रंथकार ने कृष्णचरित प्राय: उसी तन्मयता और विस्तार से लिखा है जिस तन्मयता और विस्तार से तुलसीदास ने रामचरित अंकित किया है। मिश्र जी ने इस ग्रंथ की रचना द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि प्रबंध के लिए अवधी की प्रकृति आज भी वैसी ही उपादेय है जैसी तुलसीदास के समय में थी।

अवधी भाषा की कहावते उत्तर प्रदेश के अवध क्षेत्र के ग्रामीण लोक जीवन में अत्यधिक प्रचलित हैं। कहावत आम बोलचाल में इस्तेमाल होने वाले उस वाक्यांश को कहते हैं, जिसका सम्बन्ध किसी न किसी कहानी या पौराणिक कथाओ से जुड़ा हुआ होता है। कहीं कहीं इसे मुहावरा अथवा लोकोक्ति के रूप में भी जानते हैं। प्रायः ये कहावते एक भाषा की कहावतों को अन्य भाषाओं के द्वारा मूल या बदले हुये रूप में अपना भी लिया जाता है। बड़े-बूढ़े, अनुभवशील विद्वानों एवं नीतिज्ञों द्वारा देखे-सुने ज्ञान के आधार पर सोंच-समझकर कही हुई नपी-तुली और स्पष्ट खरी-खरी बातें जो सभी को अच्छी लगे और अर्थ-ध्वनि तथा शब्दों की दृष्टि से चमत्कारपूर्ण हो कहावत या लोकोक्ति कही जाती है । डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में ये व्यावहारिक जीवन की गुत्थियाँ सुलझाने में सहायक मानवीय ज्ञान के चोखे और चुभते सूत्र हैं। अवधी की कुछ कहावतें इस प्रकार हैं -

1. अंधाधुन्ध दरबार माँ गदहा पँजीरी खाँय। (उदारता का नाजायज फायदा उठाने पर प्रयुक्त किया जाने वाला कहावत)
2. कत्थर गुद्दर सोवैं। मरजाला बैठे रोवैं। (कथरी गुदड़ी ओढ़ने वाला आराम से सो रहा है लेकिन फैन्सी कपड़ों वाला जाड़े से ठिठुर रहा है।)
3. करिया बाम्हन ग्वार चमार। इन दून्हों ते रह्यो होसियार।
4. खरी बात जइसे मौसी क काजर।
5. गगरी दाना। सुद्र उताना।

तुलसीदास कृत रामचरितमानस एवं मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत सहित कई प्रमुख ग्रंथ इसी बोली की देन है। इसका केन्द्र अयोध्या है। अयोध्या लखनऊ से 120 किमी की दूरी पर पूर्व में है। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', पं महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राममनोहर लोहिया, कुंवर नारायण, दिवाकर द्विवेदी की यह जन्मभूमि है। उमराव जान, आचार्य नरेन्द्र देव और राम प्रकाश द्विवेदी की कर्मभूमि भी यही है। रमई काका की लोकवाणी भी इसी भाषा में गुंजरित हुई। हिंदी के रीतिकालीन कवि द्विजदेव के वंशज अयोध्या का राजपरिवार है। इसी परिवार की एक कन्या का विवाह दक्षिण कोरिया के राजघराने में अरसा पहले हुआ था। हिंदी के वरिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने अवधी भाषा और व्याकरण पर महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। फाह्यान ने भी अपने विवरण में अयोध्या का जिक्र किया है। आज की अवधी प्रवास और संस्कृतीकरण के चलते खड़ी बोली और अंग्रेजी के प्रभाव में आ रही है।

अवधी के पश्चिम में पश्चिमी वर्ग की बुंदेली और ब्रज का, दक्षिण में छत्तीसगढ़ी का और पूर्व में भोजपुरी बोली का क्षेत्र है। इसके उत्तर में नेपाल की तराई है । हिंदी खड़ीबोली से अवधी की विभिन्नता मुख्य रूप से व्याकरणात्मक है। इसमें कर्ता कारक के परसर्ग (विभक्ति) "ने" का नितांत अभाव है। अन्य परसर्गों के प्राय: दो रूप मिलते हैं- ह्रस्व और दीर्घ। (कर्म-संप्रदान-संबंध : क, का; करण-अपादान : स-त, से-ते; अधिकरण : म, मा)।

अवधी की संज्ञाओं में खड़ीबोली की तरह दो विभक्तियाँ होती हैं- विकारी और अविकारी। अविकारी विभक्ति में संज्ञा का मूल रूप (राम, लरिका, बिटिया, मेहरारू) रहता है और विकारी में बहुवचन के लिए "न" प्रत्यय जोड़ दिया जाता है (यथा रामन, लरिकन, बिटियन, मेहरारुन)। कर्ता और कर्म के अविकारी रूप में व्यंजनान्त संज्ञाओं के अंत में कुछ बोलियों में एक ह्रस्व "उ" की श्रुति होती है (यथा रामु, पूतु, चोरु)। किंतु निश्चय ही यह पूर्ण स्वर नहीं है और भाषाविज्ञानी इसे फुसफुसाहट के स्वर-ह्रस्व "इ" और ह्रस्व "ए" (यथा सांझि, खानि, ठेलुआ, पेहंटा) मिलते हैं।

संज्ञाओं के बहुधा दो रूप, ह्रस्व और दीर्घ (यथा नद्दी नदिया, घोड़ा घोड़वा, नाऊ नउआ, कुत्ता कुतवा) मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अवधी क्षेत्र के पूर्वी भाग में एक और रूप-दीर्घतर मिलता है (यथा कुतउना)। अवधी में कहीं-कहीं खड़ीबोली का ह्रस्व रूप बिलकुल लुप्त हो गया है; यथा बिल्ली, डिब्बी आदि रूप नहीं मिलते बेलइया, डेबिया आदि ही प्रचलित हैं।

अवधी बोली के सर्वनाम में खड़ीबोली और ब्रज के "मेरा तेरा" और "मेरो तेरो" रूप के लिए अवधी में "मोर तोर" रूप हैं। इनके अतिरिक्त पूर्वी अवधी में पश्चिमी अवधी के "सो" "जो" "को" के समानांतर "से" "जे" "के" रूप प्राप्त हैं।

क्रिया में भविष्यकाल रूपों की प्रक्रिया खड़ीबोली से बिलकुल भिन्न है। खड़ीबोली में प्राय: प्राचीन वर्तमान (लट्) के तद्भव रूपों में- गा-गी-गे जोड़कर (यथा होगा, होगी, होंगे आदि) रूप बनाए जाते हैं। ब्रज में भविष्यत् के रूप प्राचीन भविष्यत्काल (लट्) के रूपों पर आधारित हैं। (यथा होइहैंउ भविष्यति, होइहोंउ भविष्यामि)। अवधी में प्राय: भविष्यत् के रूप तव्यत् प्रत्ययांत प्राचीन रूपों पर आश्रित हैं (होइबाउ भवितव्यम्)। अवधी की पश्चिमी बोलियों में केवल उत्तमपुरुष बहुवचन के रूप तव्यतांत रूपों पर निर्भर हैं। शेष ब्रज की तरह प्राचीन भविष्यत् पर। किंतु मध्यवर्ती और पूर्वी बोलियों में क्रमश: तव्यतांत रूपों की प्रचुरता बढ़ती गई है। क्रियार्थक संज्ञा के लिए खड़ीबोली में "ना" प्रत्यय है (यथा होना, करना, चलना) और ब्रज में "नो" (यथा होनो, करनो, चलनो)। परंतु अवधी में इसके लिए "ब" प्रत्यय है (यथा होब, करब, चलब)। अवधी में निष्ठा एकवचन के रूप का "वा" में अंत होता है (यथा भवा, गवा, खावा)। भोजपुरी में इसके स्थान पर "ल" में अंत होनेवाले रूप मिलते हैं (यथा भइल, गइल)। अवधी का एक मुख्य भेदक लक्षण है अन्यपुरुष एकवचन की सकर्मक क्रिया के भूतकाल का रूप (यथा करिसि, खाइसि, मारिसि)। य-"सि" में अंत होनेवाले रूप अवधी को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलते। अवधी की सहायक क्रिया में रूप "ह" (यथा हइ, हइं), "अह" (अहइ,अइई) और "बाटइ" (यथा बाटइ,बाटइं) पर आधारित हैं।

उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार अवधी की बोलियों के तीन वर्ग माने गए हैं : पश्चिमी, मध्यवर्ती और पूर्वी। पश्चिमी बोली पर निकटता के कारण ब्रज का और पूर्वी पर भोजपुरी का प्रभाव है। इनके अतिरिक्त बघेली बोली का अपना अलग अस्तित्व है।विकास की दृष्टि से अवधी का स्थान ब्रज, कन्नौजी और भोजपुरी के बीच में पड़ता है। ब्रज की व्युत्पत्ति निश्चय ही

मिडिल क्लास पास कंत्राक्तरी के सपने देखता है. सोते-जागते, उठते-बैठते, किसी कांग्रेस बाबू का गुणगान करता है. आम चुनाव सामने है. प्रत्येक खादीधारी उम्मीदवार है और टिकट की पैरवी के लिए देश के कोने कोने में पैंतरे बांधे जा रहे हैं. समय पर वर्षा नहीं होती, असमय बाढ़ आती है. ऋतुओं की महिमा नष्ट हो चुकी है. सूरज,चाँद, तारों का भी कोई विश्वास नहीं– क्या जाने किस दिन उगना बंद कर दें, कुछ कहा नहीं जा सकता. कोई कहता है देश आगे बढ़ रहा है. कोई इसे योजन भर पीछे खिसका हुआ देखता है .....नेहरु जी अकेले पड़ते जा रहे हैं ... रौशनी बुझ रही है एक एक कर. १

उपर्युक्त पंक्तियों के आलोक में जुलूस उपन्यास के केंद्र में पूर्वी पाकिस्तान का वह हिन्दू कुनबा है जो देश विभाजन के पश्चात् विस्थापन का दंश झेलते नये भारत में अपने अस्तित्व को बचाते हुए जड़ ज़माने की जुगत में है. यह स्थान इस देश का कोई भी गाँव हो सकता है जिसकी शक्लो-सूरत पूर्वी बंगाल ।के किसी गाँव से मिलती है. इस कुनबे की बसाहट, स्थानीयों से टकराहट, अलगाव युक्त पहचान, गाँव का नामकरण, नामकरण की अवसरवादी राजनीति, एक-दूसरे के हित अनहित पर प्रभाव, मेलजोल, विश्वास–अविश्वास के ताने बाने में पूरा कथानक बद्ध है. पूरे कुनबे के प्रतिनिधि चरित्र के रूप में पवित्रा नाम की एक युवती है और जहाँ इनका निवास है उस मोहल्ले का नाम नबीन नगर रखा है जिसे स्थानीय निवासी टीस या बहुत से अन्य कारणों से पाकिस्तनियाँ टोला कहते हैं. यह गोड़ीयर गाँव का ही एक हिस्सा है. गोडियर गाँव के इन्हीं पुराने एवं नए बाशिंदों के बिगड़ते–बनते रिश्तों के बीच जुलूस उपन्यास का कथानक अपना विस्तार पता जाता है और स्थानीय समस्याओं व समाधानात्मक पहल के बहाने देश की तस्वीर उभरती जाती है.

जैसा कि हम सभी जानते है कि स्वतंत्रता पूर्व हमारे नेताओं ने देश के लिए बड़े बड़े आदर्श बुने थे. स्वतंत्रता पश्चात् उस पीढ़ी के नेताओं तक भले वह आदर्श रहा हो लेकिन तय है कि स्वतंत्रता पश्चात् के नई पीढ़ी के नेता कहीं कहीं अवसरवाद की राजनीति करने लगे थे. इसका संकेत स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में विपुलता से प्राप्त होता है. फणीश्वर नाथ रेणु का रचना संसार भी इससे अछूता नहीं है.

नये टोले के नामकरण के अवसर पर पर उद्धृत इस कथन से इसकी पुष्टि होती है – "नोबीन नगर नहीं –नबी नगर ! न नोबीन नगर न नबीन नगर, इस गाँव का सही नाम है नबी नगर ! राज्य के पुनर्वास उपमंत्री मुहम्मद इस्माइल नबी ने इस गाँव के शिलान्यास समारोह के अवसर पर बोलते हुए कहा था –यह सब उस बापू की महिमा है कि मेरे जैसा अदना खिदमतगार, कि जनता के इस छोटे से सेवक के नाम पर आज नगर बसाये जा रहे हैं....."

रेणु लोक के चितेरे हैं. भारतीय सामाजिक व्यवस्था विशेषतः ग्रामीण व्यवस्था का उनका अनुभव अत्यंत विषद है. ग्रामीण व्यवस्था में भी जाति व्यवस्था की नब्ज पर उनकी ऊँगली अपने आप चली जाती है. वे उन जातियों के पेशे व मनोविज्ञान से भलीभांति परिचित हैं. इसलिए उनका चित्रण करने से नहीं चूकते. पंचलाइट कहानी हो या मैला आँचल उपन्यास ! टोलों में विभक्त इन जातियों, कुनबों का आपसी व्यवहार एवं उनका सूक्ष्म समाजशास्त्रीय अध्ययन 'जुलूस' में भी देखने को मिलता है –

"गोड़ियर गाँव ! पंद्रह घर मैथिल, चार परिवार राजपूतों के– यह है गोड़ियर गाँव का बाबू टोला. बीस घर ग्वाले, आठ धानुक, तेरह घर गोढ़ी- गोड़ियर गाँव का असल नाम इसी गोढ़ी टोला से हुआ– जहाँ गोढ़ी (मछली मारने वाली जाति) लोग रहते हैं –गोढ़िहार. गोढ़िहार से गोड़ियर." यद्यपि प्रथम दृष्टया यह विवेचन एवं चित्रण सामान्य लग सकता है किन्तु स्वतंत्रता आन्दोलन के सपनों के अलोक में देखने पर आजादी के लगभग पंद्रह वर्षों पश्चात् इस व्यवस्था का 'यथास्थिति स्वरूप' नीति नियंताओं एवं देश की जड़ मानसिकता पर सीधा व्यंग्य है.

विद्यापति के कीर्तिलता के हवाले से देखें तो 'हिन्दू तुरकैं मिलल वास' इस देश की स्वाभाविक चेतना है. जुम्मन और अलगू के माध्यम से प्रेमचंद ने भी इस ओर ध्यानाकृष्ट कराया है. इसी तथ्य की ओर रेणु भी पाठकों का ध्यान खींचते हैं– "पवित्रा के पिता–जमापुर गाँव के एकमात्र हिन्दू–जमींदार. एकमात्र ब्राह्मण परिवार. एकमात्र सवर्ण हिन्दू.... गाँव में तीन और जमींदार थे. तीनों मुसलमान. मुसलमानों की तेरह टोली और हिन्दुओं के कुल मिलाकर ढाई मोहल्ले. गाँव के सभी लोग, हिन्दू-मुसलमान,पवित्रा के पिता को 'पिता ठाकुर' कहते थे. और पवित्रा की हवेली का नाम मशहूर था–ठाकुरबाड़ी." यह प्रक्रिया केवल साथ-साथ तक रहने की नहीं थी बल्कि खानपान तक का नाता भी उनमें था–"कादिर अब्बा के घर हर साल दो बार सौगात भेजी जाती थी. ईद और दुर्गा पूजा में. अपने पिता के साथ पवित्रा बचपन से ही ईद के मौके पर कादिर अब्बा की हवेली में जाती. कासिम, शमीम, शबनम–कादिर अब्बा के सभी बच्चे–दुर्गा पूजा में ठाकुर बाड़ी आते थे." ५

मराठी और हिंदी के एक युवा कवि हैं 'किरण काशीनाथ'. 'अब हालात काबू में है' इनका काव्य संग्रह है. इस संग्रह में एक कविता है– तुम सायकोलाजी के बड़े पंडित हो / बताओ ...../फसाद में अक्सर /पडोसी भी दंगाइयों में शामिल क्यूँ हो जाते हैं ? जुलूस इस प्रश्न का बहुत ही बेहतर उत्तर देता है – "किन्तु उसी बार वाग्दी–पाड़ा की कुबड़ी बूढ़ी की मारफ़त कासिम ने खबर भेजी थी– इस बार ईद के बाद फिर दूसरा ईद होगा– जश्न ! वह पविता को लेने आवेगा. पविता सज–धजकर तैयार रहे उस दिन. ....ईद का जश्न.### ## ## काला की माँ ने चुपचाप बतलाया था– कासिम भाले की नोक पर 'विनोद' का कटा हुआ सिर लेकर सबसे आगे था. ...विनोद मुखर्जी. लखीमपुर के रायसाहब विकास मुखर्जी का बेटा-पविता का होने वाला दूल्हा."

आस्था के नाम पर शक्ति प्रदर्शन करने वाले धार्मिक जुलूसों की भी रेणु ने अच्छी खबर ली है –"जंगल से निकलकर एक दिन जिन्नात की बीबी नहीं शैतान आये थे. हजारों लोग जुलूस बनाकर आ रहे हैं– झंडा, बाजा-गाजा. मुहर्रम नहीं ! जुलूस ! जुलूस जुमापुर के पास आकर रुका ! कई लोग आ रहे हैं– मोटरसाइकिल पर,घोड़े पर !.... तोमरा मोछलमान हइते, इस्लाम कबूल कोरते राज़ी ? की बल से साला मोछ्ला ? इस्लाम कबूल ? फिर इसके बाद जुलूस आगे बढ़ता गया – आग की नदी में बाढ़ आयी– नदी गाँव में घुस गयी. आगुन ! आगुन !! मारो–मारो !!" धर्मोन्माद में मानवता इसी प्रकार बलि चढ़ती है. भीड़ की शक्ल में वैयक्तिक दुश्मनी पूरी करने का ये सबसे सटीक अवसर होता है. जुलूस उपन्यास में इन सब पर से पर्दा हटाया गया है.

स्वतंत्र भारत में अब अंग्रेज लूटखोरी और जमाखोरी नहीं करते बल्कि अवसरपरस्त हिन्दुस्तानी अपनों को ही लूटने में उनसे कई गुना आगे निकल गये हैं–"तालेश्वर गोढ़ी का मिल चल रहा है. आजकल वह अपने गोदाम में जमे हुए धान को कूट रहा है– दूने दाम में चावल बिक्री करने का यही समय है. चारों ओर धान और पात के खेत-- हरे-भरे खेतों में लछमी सजी धजी खड़ी है धानी रंग की साड़ी पहनकर मंद-मंद हासिनी. खेतिहर–किसानों के मलार गाने के दिन हैं. खेतों में लछमी हंसती है, घर में लछमी हंसती है...लेकिन जब तालेवर गोढ़ी का मिल चलता है तब लछमी के चेहरे पर आतंक की छाया छा जाती है. हंसी बिला जाती है. गीत रुक जाता है. तुत–तुत, तुत–तुत—इस ताल पर सभी का गीत 'बेताला' हो जाता है. ताल पर चलता है सिर्फ तालेश्वर गोढ़ी का बेटा राम जी गोढ़ी ." इसी प्रकार समाज में व्याप्त मुनाफाखोरी, बढ़ती नशाखोरी और उसके अवैध कारोबार का भी जुलूस उपन्यास में व्यापक निदर्शन हुआ है.

हालाँकि हर स्याह के भीतर एक श्वेत बैठा रहता है. पविता और नरेश के रूप में वह श्वेत रौशनी फणीश्वरनाथ रेणु को दिखाई देती है. दोनों ही अपने आप में निश्छल भाव से समाज में योजक की भूमिका निभा रहे हैं. उनका नेतृत्व कोरी भावुकता का आवरण लिए नही बल्कि सांस्कृतिक चेतना की मजबूत बुनियाद लिए हुए है. उनमें 'जहाँ बसै वह सुन्दर देसू' की मजबूरी नहीं बल्कि अपने अस्तित्व, अपनी पहचान के साथ जीने की उत्कट इच्छा शक्ति है. नवीननगर में पविता अपने गाँव जुमापुर को अनुभूत करती है, न केवल वह यह अनुभूति स्वयं करती है बल्कि सबको कराती भी है –"अचानक गोपाल पाइन को किसी ने नोबीन नगर की कालोनी में, गोल्पर्क के सामने लाकर पटक दिया . उसकी आंखें झरने लगीं –दीदी ठाकरुन ! इ की देखा ले ? अपने गाँव की छवि देखकर कलेजा स्थिर रह सकता है भला ?मैं एकदम जुमापुर पहुँच गया था. .... इस देश में सिर्फ आदमी ही 'अपन पार्टी' का नहीं दिशाएं भी 'अपन देश अपन पार्टी की' हो सकती हैं."

इसी प्रकार नरेश का व्यक्तित्व भी निश्चित रूप से इस देश के लिए आवश्यक एक शानदार संगठक का है– "नरेश वर्मा पटना के प्रसिद्ध अंग्रेजी साप्ताहिक 'इंकलाब' का प्रतिनिधि है. लोकगीत गाता है और पिछले साल उसने यहाँ के धांगडों का एक नाच दल संगठित किया है. नाचदल इस बार दिल्ली से 'रिपब्लिक डे शील्ड' जीतकर ले आया है. पूर्णिया जिले में युगों से बसे हुए इन धांगडों ने कभी किसी 'दिक्कू' को को अपने नाच में शरीक नहीं किया. किन्तु नरेश वर्मा ने इस टोली के मुखिया और उसकी स्त्री के दिलों को न जाने कैसे जीत लिया. उस टोली का एक-एक बच्चा उसे अपना सगा भैया समझता है."

अंततः इस उपन्यास के माध्यम से रेणु देश की भावी पीढ़ी को नेतृत्व हेतु एक रास्ता दिखाते नजर आये हैं जिसमें आत्मोत्सर्ग, विश्वदृष्टि, मानवता की भूमि पर ही एक बेहतर राष्ट्र संभव है. भाषा के स्तर पर भी यह उपन्यास वैविध्य से भरा हुआ है. स्थान एवं पात्रानुकूल भाषा रेणु रचना की विशेषता है सो उसका भी निर्वाह पूरे उपन्यास में सफलतापूर्वक हुआ है.

❑ सहायक प्राध्यापक, हिंदी

डॉ. राजेश मिश्र

जीवन संवेदना का भाषिक-संस्कार

अवधी हिंदी क्षेत्र की एक उपभाषा है। यह उत्तर प्रदेश के "अवध क्षेत्र" (लखनऊ, रायबरेली, सुल्तानपुर, बाराबंकी, उन्नाव, हरदोई, सीतापुर, लखीमपुर, अयोध्या, जौनपुर, प्रतापगढ़, प्रयागराज, कौशाम्बी, अम्बेडकर नगर, गोंडा,बस्ती, बहराइच, बलरामपुर, सिद्धार्थनगर, श्रावस्ती तथा फतेहपुर) में बोली जाती है। इसके अतिरिक्त इसकी एक शाखा बघेलखंड में बघेली नाम से प्रचलित है। 'अवध' शब्द की व्युत्पत्ति "अयोध्या" से है। तुलसीदास ने अपने "मानस" में अयोध्या को 'अवधपुरी' कहा है। इसी क्षेत्र का पुराना नाम 'कोसल' भी था जिसकी महत्ता प्राचीन काल से चली आ रही है।

भाषा शास्त्री डॉ॰ सर "जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन" के भाषा सर्वेक्षण के अनुसार अवधी बोलने वालों की कुल आबादी 1615458 थी जो सन् 1971 की जनगणना में 28399442 हो गई। मौजूदा समय में शोधकर्ताओं का अनुमान है कि 6 करोड़ से ज्यादा लोग अवधी बोलते हैं। हरदेव बाहरी स्वीकार करते हैं कि "1931 की जनगणना के अनुसार अवधी बोलने वालों की संख्या 1 करोड़ 42 लाख थी, 1981 के आंकड़े के आधार पर हमारा अनुमान है कि इस समय यह संख्या 2 करोड़ के आसपास है" 1-भारत के उत्तर प्रदेश प्रान्त के 19 जिलों, बिहार प्रांत के 2 जिलों के साथ पड़ोसी देश नेपाल के कई जिलों - बांके जिला, बर्दिया जिला, दांग जिला, कपिलवस्तु जिला, पश्चिमी नवलपरासी जिला, रुपन्देही जिला, कंचनपुर जिला आदि में यह काफी प्रचलित है। इसी प्रकार दुनिया के अन्य देशों- मॉरिशस, त्रिनिनाद एवं टुबैगो, फिजी, गयाना, सूरीनाम सहित आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड व हॉलैंड (नीदरलैंड) में भी लाखों की संख्या में अवधी बोलने वाले लोग हैं।

गठन की दृष्टि से हिंदी क्षेत्र की उपभाषाओं को दो वर्गों-पश्चिमी और पूर्वी में विभाजित किया जाता है। अवधी पूर्वी के अंतर्गत है। पूर्वी की दूसरी उपभाषा छत्तीसगढ़ी है। अवधी को कभी-कभी बैसवाड़ी भी कहते हैं। परंतु बैसवाड़ी अवधी की एक बोली मात्र है जो उन्नाव, लखनऊ, रायबरेली,फतेहपुर और सिंगरौली जिले के कुछ भागों में बोली जाती है।

नोमोफोबिया से बचने के उपाय-

नामोफोबिया से बचने के लिए इसके लिए जरूरी है कि पहले आप अनुशासित रहें। किसी भी बुरी लत को छोड़ने का सबसे सरल तरीका अनुशासन है। एक नियमित समय के लिए मोबाइल फोन का यूज़ करें। आप चाहे तो अपने ऊपर कर्फ्यू भी लगा सकते हैं। इसके तहत एक समय सारणी बनाकर अनुसरण करें। निर्धारित समय पर मोबाइल इस्तेमाल करें, बाकी समय में खुद को मोबाइल से दूर रखें। घर के बाहर स्मार्टफोन का कम से कम इस्तेमाल करें। इसके लिए जब आपको जरूरत हो, उस समय फोन करने के लिए यूज करें।सप्ताह में एक दिन जरूर सोशल मीडिया से दूरी बनाएं। अपने दोस्तों को भी ऐसा करने की सलाह दें। घर पर अपने परिवार वालों को समय दें। अगर आप मोबाइल कम यूज़ करेंगे, तो आपको बार-बार बैटरी चार्ज करने की भी जरूरत नहीं पड़ेगी।अगर हो सके तो सोशल मीडिया एक महीने में 4-5 दिन लगातार सोशल मीडिया से दूर रहें। रात में मोबाइल फोन का कम से कम यूज़ करें। इसके बदले में बुक्स पढ़ सकते हैं।

यदि ऐसा करने में आप सफल होते हैं तो निश्चित तौर पर आप इससे बच सकते हैं।

❑ **सहायक प्राध्यापक,** अस्थायी
पत्रकारिता एवं जनसंचार

डॉ. संतोष सिंह ठाकुर

विज्ञान धर्म व दर्शन

समन्वयात्मक दृष्टिकोण

मनुष्य बुद्धिशील होने के कारण विचार व चिंतन प्रकिया उसका सहज स्वतःस्फूर्त स्वभाव है। जानने (knowing) और मानने (believing) की प्रकिया में विरोधाभास होते हुए भी ये दोनों साथ- साथ चलते रहते हैं। इस वैज्ञानिक युग में व्यक्ति उन्हीं बातों को स्वीकार करता है जो तार्किक और प्रामाणिक हो। ऐसा विशेष ज्ञान जो सुव्यवस्थित, सर्वव्यापी, तर्कसंगत व तथ्यपरक हो, जिसे परीक्षण व प्रयोग के द्वारा बारंबार दोहराने पर भी समान परिणाम (reproducibility) प्रदर्शित करे विज्ञान कहते है। जैसे जल का स्त्रोत कहीं का भी हो, यथा नदी, तालाब, समुद्र, भूजल, वर्षा का जल, एवं किसी भी भौगोलिक स्थिति यथा भारत, जापान, अमेरिका का हो, सभी में वह आण्विक स्तर पर H_2O है। केवल प्रयोगात्मक ज्ञान ही नहीं, कई परिकल्पनाओं का सत्यापन भी वैज्ञानिक विधि से सम्भव है। संदेह, परीक्षण, प्रमाण तथा उपयोगिता ने विज्ञान को विकसित, सुदृढ़ और स्थापित किया है। बिना विज्ञान और तकनीकी के भौतिक विकास की कल्पना सम्भव नहीं है।

किन्तु व्यक्ति की कुछ जिज्ञासाओं का शमन तार्किक विश्लेषण और वैज्ञानिक विधि से नहीं हो पाता है। विज्ञान और वैज्ञानिकता को आंशिक सत्य के रूप में स्वीकार करते हुए वह पूर्ण सत्य के अन्वेषण में प्रवृत रहता है। किंतु व्यक्ति के हृदय का एक कोना आस्थावान भी होता है। मनुष्य की यह आस्था उसके स्वयं के आनंद प्रेम, पूर्णता, शांति, करुणा और समृद्धि के साथ साथ समाज में एकात्मकता स्थापना के लिए होता है। यह विश्वास धर्म, ईश्वर, सत्य या कुछ और ऑब्जेक्ट हो सकता है। धार्मिक आस्था मनुष्य एवं ईश्वर के मध्य एक संवेगात्मक (emotional) सम्बन्ध स्थापित करता है। धर्म की धारणा व्यक्ति व समाज की देन है। धर्म को लेकर जनमानस में दो धारणाएं प्रचलित है। एक वह जो धर्म को सकारात्मक मानते हैं और इसे संस्कृति व सभ्यता के विकास में सार्थक मानते हैं। दूसरा वह, जो इसे नकारात्मक, निरर्थक व विकास में बाधक मानते हैं। ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं, जो धर्म को निंदित कर इसे अंधविश्वास, दकियानूसी,

पिछड़ापन व ऑर्थोडोक्सिअल कह, सारी समस्यों का जड़ मानते हैं। पहले मनुष्य पशु, पक्षी, जल, हवा, आकाश, सूर्य, ब्रम्हाण्ड व प्रकृति की पूजा करता था तथा जादू-टोना पर विश्वास करता था । लेकिन कालांतर में जैसे जैसे विज्ञान और वैज्ञानिक विधि का अविष्कार होते गया सारी भ्रांतियां मिटते गयीं। धर्म की अनेकों परिभाषाएं दी गई है। संस्कृत भाषा का शब्द 'धर्म' धृ धातु से बना है जिसका अर्थ धारण करने योग्य से है। धार्यते इति धर्मः। वह सकारात्मक विचार और सद्कर्म जिसे स्थायी रूप से या लंबे समय के लिए धारण कर सके, वही धर्म है। जैसे क्रोध को कोई लंबे समय तक धारण नहीं कर सकता लेकिन शांति चिरस्थायी है। जबकि अंग्रेजी भाषा का शब्द रिलिजन (religion), लैटिन भाषा के religare से बना है। जिसका अर्थ बांधना (to bind) है। धर्म एक प्रकार का आदर्श आचार संहिता की तरह है जो जीवन की गुणवत्ता में वृद्धि एवं सदप्रवृति की ओर उन्मुख कर दुःख-निदान, शान्ति और मोक्ष (salvation) की ओर ले जाता है। आदि मानव से आधुनिक मनुष्य तक के विकास क्रम में धर्म भी अपने विभिन्न अवस्थओं से गुजरते हुए मानवतावाद व आध्यात्मवाद तक पहुंचा है।

धर्म के बाह्य रूप में अनेकों विविधताएं हैं। सभी धर्मों में धार्मिक अनुभूतियां होती हैं। यह धार्मिक अनुभूति तत्वतः एक होते हुए भी बाह्य रूप में व्यापक विषमता और भेद दिखाई देता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धिज्ञान, स्थान, सुविधा और इच्छा के अनुरूप विभिन्न प्रकार के मत, पंथ और पूजा पद्धति को मानकर उपासना करता है। प्रत्येक व्यक्ति की धार्मिक अनुभूति अनूठी व सब्जेक्टिव होती है। स्वीटजरलैंड के संत की धार्मिक अनुभूति भारतीय सन्यासी या किसी सूफी संत से अलग हो तो कोई आश्चर्य नहीं। धर्म को केवल प्रचलित क्रियात्मक पहलू, पूजा पद्धति, कर्मकांड व बाह्य स्थूल रूप तक सीमित नहीं कर सकते। ईश्वर व सत्य एक होते हुए भी धार्मिक अनुभूति की भिन्नता के कारण इसका चित्रण व अभिव्यक्ति भिन्न भिन्न हो जाता है। इसके विपरीत, धर्म का आंतरिक स्वरूप बहुत ही सूक्ष्म, तात्विक, रहस्यात्मक और आत्यंतिक सुंदर तथा अन्वेषण करने योग्य है। हरेक व्यक्ति का धर्म के प्रति एक धारणा होती है और यह धारणा स्थिर न होकर गतिशील होता है। गतिशील धर्म की स्वीकारोक्ति स्थिर धर्म की अपेक्षा ज्यादा है। यद्यपि धार्मिक मत स्थायी व शाश्वत सिद्धांत का निरूपण करते हैं।

धर्म का विषय वस्तु व कार्य क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है और यह मानव जीवन के तीन महत्वपूर्ण- ज्ञानात्मक (knowledge or wisdom), भावनात्मक (emotions or devotions) और क्रियात्मक (actions or rituals) पक्षों को तृप्त करता है। इसके विपरीत विज्ञान में प्रयोग, परीक्षण, ज्ञान व अनुभव सब्जेक्टिव न होकर यूनिवर्सल व ऑब्जेक्टिव होता है जो विशुद्ध बौद्धिक जिज्ञासा को संतुष्ट करता है। विज्ञान तर्क, अवलोकन व प्रयोग आधारित होने के कारण धर्म विषयक बातों को नकारते आया है। **धर्म सृष्टि वाद (creationism)** में विश्वास करता है जबकि **विज्ञान विकासवाद (evolutionism)** को मान्यता प्रदान करता है। कई बार तो धर्म और विज्ञान में टकराव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है- यथा गैलीलियो का (1615 ई.) ब्रम्हाण्ड संबधी सिद्धांत में सूर्य को केंद्र और पृथ्वी सहित अन्य ग्रह का परिक्रमण की बात कही गयी है। उनका यह सिद्धांत उस समय के प्रचलित धार्मिक आस्थाओं के विपरीत था। उन पर न्यायिक प्रकिया चलाकर धर्म सत्ता ने उन्हें जीवन के अंतिम 8 वर्षों तक घर में नज़रबंद रखा। चार्वाक विचार भी समस्त प्रकार के धार्मिक आस्थाओं को खंडित कर पदार्थ को महिमामंडित करता है। धर्म को आधुनिक वैज्ञानिक विधि से परीक्षण करेगें तो संदेह और अनास्था का जन्म होगा क्योंकि दोनों का उद्देश्य एक होते हुये भी आधार व विधि अलग अलग है। विज्ञान परीक्षण व प्रमाण पर आधारित है तो धर्म आस्था व अनुभव को महत्व देता है। दोनों में प्रमाण के मायने अलग अलग है। विज्ञान सामान्यतः आगमन विधि (Inductive method) से निष्कर्ष तक पहुँचता है जबकि धर्म की मान्यताएं निगमन (deductive) पर आधारित है। धर्म में अथोरिटी के मत या निर्देश पर कोई संशय या प्रश्न नहीं किया जाता वही विज्ञान में कोई पूर्व सत्ता या ऑथोरिटी नहीं होता यह प्रयोग शाला से विश्लेषण कर प्राप्त तथ्य और सत्य है। अधिकांश धर्मों में ईश्वर को परम सत्ता और सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है। धर्म में मनुष्य ईश्वर को उपास्य व स्वयं को उपासक मानता है। उसके लिए ईश्वर सर्वव्यापत, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, नीयंता, पालनकर्ता और सहारक है। जबकि विज्ञान प्रकृति और प्राकृतिक घटनाओं का कार्य कारण सिद्धान्त पर आधारित नियमबद्ध अन्वेषण में विश्वास करता है। धर्म नैतिक नियमों को मान्यता प्रदान करता है तथा आध्यात्मवाद (spiritualism) का समर्थन करता है वहीं

कारण यह भी है कि कई अभिभावक खुद ही इसकी जद में हैं। स्मार्टफोन के उपयोग पर किये गए सर्वे के अनुसार लगभग 80 फीसदी स्मार्टफोन उपभोक्ताओं ने स्वीकार किया है कि वे एक दिन भी अपने फोन के बिना नहीं रह सकते हैं। इस बात से यह समझा जा सकता है कि स्मार्टफोन की यह लत यानि 'नोमोफोबिया' किस तरह हमारे मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित कर रहीहै।

आज की डिजिटल दुनिया में ज्यादातर लोग मोबाइल फोन का इस्तेमाल कर रहे हैं। युवा वर्ग तो इसके बिना रह ही नहीं पा रहा। माता-पिता भी समय और आवश्यकता को देखते हुए बच्चों को स्मार्टफोन खरीद कर दे रहे हैं। एक ओर जहाँ इसके फायदे हैं, तो दूसरी ओर इसका नुकसान भी हैं यदि आप मोबाइल फ़ोन का सीमित इस्तेमालकर रहे हैं तब तो आपको बिल्कुल भी डरने की जरूरत नहीं है।लेकिन आप मोबाइल के इधर-उधर रख जाने, नेटवर्क एरिया से बाहर होने, मोबाइल की बैटरी खत्म होने पर बैचैन हो जाते हैं, पल-पल मोबाइल के अपडेट्स चेक करते रहते हैं और आपको मोबाइल के खोने का डर सताता रहता है तो यक़ीनन आप नोमोफोबिया के शिकार हैं और आपको डॉक्टरी सलाह की आवश्यकता है। कुछ युवाओं की तो ऐसी स्थिति है कि मोबाइल को लेकर वे कई बार घर में कोहराम मचा देते हैं। विगत कुछ समय पहले ही अमेरिका की विजन काउंसिल द्वारा किये गए एक सर्वे के अनुसार 70 फीसदी लोग मोबाइल स्क्रीन को देखते समय आँखों को सिकोड़ते हैं और इस तरह आँख सिकोड़ कर देखने का तरीका धीरे-धीरे कंप्यूटर विजन सिंड्रोम के रूप में उभर कर लोगों के सामने आता है, जो बाद में आँखों के पानी के सूखने और धुंधला दिखने की समस्या को जन्म देता है। इसके अलावा भी कई और बीमारियाँ हैं जो मोबाइल के इस्तेमाल से हो रही हैं, कुछ ख़ास तरह के रोगों की यहाँ चर्चा की जा रही है जो निम्न हैं -

रीढ़ की हड्डी पर असर- युनाइटेड कायरोप्रेक्टिक एसोसिएशन ने बताया है कि फोन के लगातार प्रयोग करनेवालों के कंधे और गर्दन लंबे समय तक झुके रहते हैं, जिससे रीढ़ की हड्डी में परेशानी या झुकाव आ जाता है साथ ही स्पोंडिलाईटिस की समस्या भी हो सकती है।

फेफड़ों पर असर - गर्दन को घंटों तक झुका कर रखने से गहरी सांस लेने में समस्या होती है। इसका सीधा असर फेफड़ों पर पड़ता है।

टेक्स्ट नेक- मोबाइल स्क्रीन पर नजरें गड़ाए रखनेवाले लोगों को गर्दन के दर्द की शिकायत आम हो चली है। इसे 'टेक्स्ट नेक' का नाम दे दिया गया है। यह समस्या लगातार टेक्स्ट मैसेज भेजने वालों और वेब ब्राउजिंग करने वालों में ज्यादातर देखा जा सकता है।

किडनी फेल हो सकती है- 75फीसदी लोग अपने सेलफोन को बाथरूम में ले कर जाने लगे हैं, जिससे हर छह में से एक फोन पर ई-कोलाई बैक्टीरिया के पाए जाने की आशंका बढ़ जाती है। इस बैक्टीरिया की वजह से डायरिया और किडनी फेल होने की आशंका होती है।

आत्मविश्वास को घटा रहा है स्मार्टफोन- सर्वे में 50 फीसदी लोगों ने यह भी माना है कि किसी के सामने स्मार्ट दिखने के लिए मोबाइल में बिजी होने की नौटंकी करते हैं। ऐसा करते-करते धीरे-धीरे उनका आत्मविश्वास घटता है।

चिंता बढ़ा रहा है-एक सर्वे में ४५ फीसदी स्मार्टफोन इस्तेमाल करने वाले उपभोक्ताओं ने स्वीकार किया है कि उन्हें यह चिंता सताती रहती है कि कहीं उनका फोन खो न जाए।

शोध के निष्कर्ष :

निष्कर्ष के तौर पर जो आंकड़े प्राप्त हुए हैं वे बेहद चौंकाने और परेशान करने वाले हैं-

- 37 फीसदी युवा और ६० फीसदी किशोरों ने माना कि उन्हें स्मार्टफोन की लत है।
- 50 फीसदी स्मार्टफोन यूजर्स फिल्म देखने के दौरान फेसबुक को चेक करते रहते हैं।
- 20 फीसदी लोगों ने ये माना कि वे हर 10 मिनट में वो अपना फोन देखते हैं।

यानी ये कहा जा सकता है कि मोबाइल का जरूरत से ज्यादा उपयोग परिवार और दोस्तों से दूरी तो बढ़ाता ही है साथ ही साथ सामाजिक छवि को भी बिगाड़ता है। मोबाइल फोन के ज्यादा इस्तेमाल करने के खतरों के प्रति जागरूकता की जरूरत है।

डॉ. अनुपमा कुमारी

नोमोफोबिया : कहीं आप भी तो इसके शिकार नहीं!

क्या आप जानते हैं ? 'नोमोफोबिया' क्या है?आप सोच रहे होंगेकि ये क्या बला है और हम कैसे इसके शिकार हो सकते हैं? है न! 'नोमोफोबिया' अंग्रेजी के NOMOPHOBIA यानी NOMOBILE PHONE PHOBIA का Abbreviation है। MDPI (Multidisciplinary Digital Publishing Institute) के एक रिसर्च के अनुसार, जब कोई व्यक्ति मोबाइल फोन को लेकर इतना सतर्क हो जाता है कि उसे हर क्षण मोबाइल की ही चिंता सताती रहती है कि कहीं उसका मोबाइल फोन गुम या खराब न हो जाए, तो उसे 'नोमोफोबिया' से पीड़ित माना जाता है और इस बीमारी से ग्रस्त व्यक्ति को 'नोमोफोब' कहा जाता है। इस लत ने व्यक्ति के मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर डाला है। दरअसल, यह शब्द, वर्ष 2018 में चर्चित हुआ, जब ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ने इसे 'ईयर ऑफ द वर्ड' घोषित किया था। कैंब्रिज, मेरियम–वेबस्टर और कॉलिंस डिक्शनरी ने भी इसे अपने-अपने शब्दकोष में शामिल किया था। सामान्य तौर पर यह देखा जा सकता है कि स्मार्टफोन का इस्तेमाल करने वाले व्यक्ति यदि फोन को घर पर या किसी जगह भूल जाएं तो उन्हें लगता है कि बिना फ़ोन के दिन भर उनका क्या होगा? अपनी उपयोगिताओं के अलावा अनजाने में ही लोग मोबाइल फोन की अनुपस्थिति में असहज होने लगते हैं। दुनियाभर में हुए कई शोधों से पता चला है कि यदि कोई व्यक्ति लगातार स्मार्टफोन का इस्तेमाल कर रहा है तो वो यकीनन 'नोमोफोबिया' बीमारी से पीड़ित हो सकता है। इस बीमारी से ग्रसित लोगों की संख्या पूरी दुनिया में निरंतर बढ़ती ही जा रही है। डॉक्टर्स की मानें तो अधिकांश अभिभावक बच्चों में हो रहे इस मानसिक रोग से अनजान और अनभिज्ञ हैं। समय आ गया है कि वे अपने बच्चों के भविष्य और स्वास्थ्य को लेकर गंभीरता से सोचना प्रारंभ कर दें। शायद अभिभावकों को इस खतरे का अंदाजा ही नहीं है कि मोबाइल फोन की लत उनके बच्चों के लिए कितनी भयावह बीमारियों को आमंत्रण दे रहा है। इस का

वैज्ञानिक विकास का परिणाम शुद्ध यंत्रवाद (mechanism) है जिसमे नैतिक मूल्यों की चिंता (consider) नहीं की जाती। विज्ञान और धर्म के उद्देश्य, विश्लेषण विधि और मान्यताओं में भेद के कारण कई विद्वान धर्म के वैज्ञानिक ज्ञान को स्वीकार नहीं करते।

कई लोग धर्म को आत्मनिष्ठ मानसिक परिकल्पना व भ्रम (illusion) मानकर उपहास करते है जो कि सही नहीं है। धर्म को अकथनीय व अज्ञेय मानना भी उचित नहीं। भले ही मनुष्य अपने भाग्य का विधाता स्वयं है लेकिन बिना धर्म के विशुद्ध विज्ञान के आधार पर विकास मूल्यहीन है। विज्ञान और ज्ञान के विकास से धर्म को लाभ ही पहुंचेगा क्योंकि इससे अन्धविश्वास, आडंबर और अंधश्रद्धा कम होगा न कि धार्मिक आस्था धर्म विज्ञान विरोधी नहीं है और न विज्ञान धर्म विरोधी, बस दोनों को क्षेत्रों और सीमाओं का ध्यान रखना है। कई लोग धर्म और विज्ञान में समन्वय की जगह भेद कराना चाहते हैं। इन्हीं लोग विज्ञान अधार्मिक और धर्म अवैज्ञानिक कहकर एक दूसरे के समूल उल्मूलन का विचार रखते हैं। जिस प्रकार पदार्थ की अलग अलग गुणधर्म व प्रकृति होते हुए भी उसमें पाये जाने वाले इलेक्ट्रान पर आवेश या चार्ज (1.60217663×10.19 Coulombs) एक समान होता है, वैसे ही धर्म के बाह्य रूप में विषमता होते हुए भी तात्विक रूप से एक समान है। कई आस्तिक (bellievers) यह मानते है कि महान वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन ने धर्म और विज्ञान को अन्योन्याश्रित बताते हुए यह कहा था कि धर्म के बिना विज्ञान लंगड़ा है और विज्ञान के बिना धर्म अंधा (Science without religion is lame, religion without science is blind).

दर्शन का विषय विश्व व विश्वेत्तर सत्ता की बौद्धिक व्याख्या व मूल्यांकन है। दर्शन शास्त्र में तर्क, अनुभूति व मानवीय ज्ञान जैसे साधनों का उपयोग सत्यान्वेषण में किया जाता है। (सत्य का मूल स्वभाव सहज अनावृत होने का है, अतः यह लंबे समय तक रहस्य में नहीं रह सकता।) दर्शन समान्यतः दृश्य जगत से परे तत्व (metaphysics) या अलौकिक (noumenal world) जैसे विषयों को ज्यादा महत्व देता है। यह विशेषकर सत्य, ज्ञान, तत्व, ईश्वर, अस्तित्व, चेतना, सौंदर्य, मानव मूल्य, मानव जीवन का प्रयोजन, आत्म साक्षात्कार आदि विषयों पर तार्किक विमर्श को प्रोत्साहित करता है। दर्शन में खंडन, आलोचना और मंडन एक सामान्य प्रक्रिया है। दार्शनिक विवेचन से धर्म परिष्कृत (purify) ही होता है न कि धर्म की

हानि या अपमान दर्शन व्यक्ति व समाज को अंधश्रध्दा व अंधविश्वास से मुक्त करता है। दर्शन बौद्धिक जिज्ञासा होते हुए भी धर्म में आस्था को बल प्रदान करता है। दर्शन, धर्म का तार्किक व सैद्धांतिक पक्ष है और धर्म, दर्शन का व्यवहारिक व रागात्मक (emotional) रूप है। भारतीय दर्शन के अद्वैत वेदांत में ब्रम्हा को निरपेक्ष सत्य कहा गया है जो निर्गुण, निराकार और निर्वयक्तिक सत्ता है। विज्ञान सापेक्षिक सत्य है। जो इंद्रिय व बुद्धिजन्य ज्ञान पर आधारित है। ईश्वर, धर्म, प्रकृति, दर्शन आदि व्यवाहरिक दृष्टिकोण से सत्य है जो जीव जगत के अस्तित्व और विकास हेतु आवश्यक तत्व है। धर्म और दर्शन के केंद्र में ब्रम्हा या ईश्वर हो जरूरी नहीं। कई धर्म निरीश्वर वादी भी है, जैसे जैन और बौद्ध दर्शन। इस प्रकार धर्म और दर्शन एक दूसरे के सम्पूरक व सहायक है।

विज्ञान, धर्म और दर्शन को एक दूसरे के सीमाओं का सम्मान करना चाहिये। बुद्धि (reason) और आस्था (faith) स्वतंत्र होते हुए भी एक दूसरे के बिना अपूर्ण है। विज्ञान और धर्म एक दूसरे के पूरक और अन्योन्याश्रित है। विज्ञान अन्वेषक है तो धर्म मार्गदर्शक बुद्धिहीन धर्म और हृदयहीन विज्ञान मानव मूल्य का सृजन नहीं कर सकता और मनुष्य की विकास यात्रा अधूरी ही रहेगी। बाह्य वैज्ञानिक विकास और आंतरिक चेतनागत ऊर्ध्वगमन का सम्यक समन्वय ही मानव जाति व सभ्यता को सम्पूर्णता की ओर ले जाएगा न कि दोनों का परस्पर विरोध व प्रतिस्पर्धा यह समन्वय का कार्य दर्शन द्वारा संभव है क्योंकि दर्शन न तो कोरा तर्कवादी तथा ऑब्जेक्टिव है न ही कोरा अनुभव और सब्जेक्टिव है। दर्शन की स्वीकारोक्ति विज्ञान और धर्म दोनों वर्गों में है। अंत में निष्कर्ष यह कि जो सत्य और कल्याणकारी है, उसमें ही शिवत्व तथा परम सौन्दर्य है, और यही तो विज्ञान, धर्म और दर्शन का ध्येय भी है। क्या नहीं है?

❑ सह-आचार्य, रसायन शास्त्र

डॉ. अमिता

पितृसत्तात्मक समाज का वर्तमान पुरुष

पिछले कुछ वर्षों में पितृसत्तामक समाज में भी पुरूष दिवस मनाने का चलन महिला दिवस की ही तर्ज पर जोर पकड़ने लगी है। किंतु, दोनों दिवस मनाने के उद्देश्य के पीछे काफी अंतर है। महिला दिवस जहां उनकी अस्मिता को रेखांकित करता है तो वहीं पुरुष दिवस पुरूषों के योगदान को रेखांकित करता है। पहली बार अंतरराष्ट्रीय पुरुष दिवस भारत में साल 2007 में मनाया गया था। दरअसल, इस साल पुरुषों के अधिकार के लिए लड़ने वाली संस्था 'सेव इंडियन फैमिली' (Save Indian Family) ने पहली बार अंतरराष्ट्रीय पुरुष दिवस भारत में मनाया था। वर्तमान में 80 देशों में 19 नवंबर को अंतरराष्ट्रीय पुरुष दिवस मनाया जाता है और इसे युनेस्को का भी समर्थन प्राप्त है। यह दिन मुख्य रूप से पुरुषों को भेदभाव, शोषण, उत्पीड़न, हिंसा और असमानता से बचाने और उन्हें उनके अधिकार दिलाने के लिए भी मनाया जाता है। जिस समाज में महिलायें पुरूषों के अधीन रहा करती थी, उसी समाज में आज महिलाओं द्वारा पुरूषों को भी प्रताड़ित किया जाने लगा है। महिलाओं की रक्षा के लिए बने कानून ही पुरुषों की प्रताड़ना का कारण बन गया है। आज इनसे उबारना पुरूषों के लिए अति आवश्यक हो गया है। आज पत्नियों से प्रताड़ित पतियों के लिए मुक्ति केंद्र तक स्थापित किये जा रहे हैं।

कहा जाता है कि हर कामयाब पुरुष के पीछे एक महिला का हाथ होता है, किंतु इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि अब महिलाओं के कामयाबी के पीछे भी पुरूषों का योगदान बढ़ता जा रहा है। जिस पितृसत्तामक समाज में महिलाओं का घर से बाहर कदम रखना दुभर था, उस समाज में आज महिलायें पुरूषों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलने लगी हैं। आज के अधिकांश पुरूष महिलाओं के काम में इसलिए हाथ बंटा रहे हैं ताकि आधी आबादी का प्रतिनिधित्व करने वाली महिलायें अपने भविष्य को संवार सकें, सदियों की गुलामी की दासता से आजाद हो सकें। लंबे समय से चले आ रहे उस भ्रम को तोड़ सके, जिसमें

नारी को नर्क का द्वारा माना जाता था। जहां, महिलायें सिर्फ भोग-विलास की वस्तु के तौर पर उपयोग की जाती थी, वहीं आज वह अपनी योग्यता और क्षमता के कारण सम्मान प्राप्त कर रही हैं। आज के पुरूष यह समझने लगे हैं कि महिलाओं को यदि उड़ान भरने के लिए छोड़ दिया जाये तो वह आसमां को छूने में देर नहीं करेंगी। किसी भी समाज में महिला और पुरूष नदी के दो किनारे नहीं बल्कि नदी की एक धारा है, जो एक के भी असहयोग से निर्वाध नहीं बह सकती है। इनके आपसी तालमेल के बिना समाज और जीवन दोनों बाधित होता रहेगा। यदि संतुलित समाज का निर्माण करना है तो दोनों को साथ-साथ चलना आवश्यक है। एक के बिना दूसरा अधूरा है। वर्तमान दौर का पुरूष महिलाओं की हर हिस्सेदारी को सहजता से स्वीकार करने लगा है। हर जिम्मेदारी को मिल-बांट कर उठाने लगा है। महिलाओं की सहभागिता, सलाह और निर्णय के बिना शायद ही कोई कदम उठा रहा है। आज का पुरूष महिलाओं को यह एहसास कराने में भी पीछे नहीं हट रहा है कि उन्हें अपनी रक्षा के लिए पिता, प्रेमी, भाई, बेटे के रूप में किसी रक्षक की जरूरत नहीं है, बल्कि वह स्वयं सक्षम है।

किंतु, एक स्याह पक्ष यह भी है कि बहुत सारे पुरूष आज भी ऐसे हैं जो महिलाओं को अपना गुलाम या फिर पैर की जूती ही समझ रहे हैं। सदियों से चली आ रही रूढ़िवादी मानसिकता उनके दिमाग से नहीं निकल पा रही है। परिणामस्वरूप कभी निर्भया तो कभी श्रद्धा आदि जैसी घटनायें सामने आती रहती है। आज पूरे देश में आफताब और श्रद्धा के किस्से सुर्खियों में है। किसी डेटिंग एप के संपर्क में आने पर किसी के लिए ऐसा दुष्परिणाम साबित हो सकता है, यह सोच कर ही रूह कांप जाता है। जिस तकनीक को मानव सभ्यता के विकास का अहम् हिस्सा माना जा रहा है, उस तकनीक का इस्तेमाल कर कुछ कुंठित पुरूष महिलाओं को बर्बाद करने का जो प्रयास कर रहे हैं वह बेहद निराशाजनक है। यह पुरूषों की पितृसत्तामक सोच ही है जो 'बुल्ली बाई एप' के रूप में समय-समय पर सामने आती है। जब भी किसी पुरूष को यह लगने लगता है कि कोई महिला उसकी या उसके कामयाबी के आड़े आ रही है तो वह सबसे पहले उस महिला का चरित्र हनन करता है या फिर उसकी देह से अपनी भूख मिटाता है। या फिर हिंसा पर उतारू हो जाता है। या फिर मां-बहन अथवा जेंडर आधारित गालियों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार पितृसत्तामक समाज का पुरूष अपनी पितृसत्तामक मानसिकता का तुष्टिकरण करता रहता है।

निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं महिला-पुरुष दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं और दोनों को यह बात स्वीकार करनी ही होगी। पुरूषों का भी पालन-पोषण उसी माहौल में होनी चाहिए, जिस माहौल में महिलाओं की होती है। पुरूषों को शक्तिशाली बताना और महिलाओं को कमजोर बताने की मानसिकता भी खत्म करनी होगी। दोनों की परवरिश सिर्फ योग्यता और क्षमता को ध्यान में रखकर ही करनी चाहिए। यदि लड़कियों पर सवाल उठाये जाते हैं तो लड़कों को भी सवालों के घेरे में रखना चाहिए। दोनों की परवरिश में समता और समानता का समावेश होना ही चाहिए।

एक के बिना दूसरे की कल्पना भी बेईमानी प्रतीत होती है। महिलाओं को आगे बढ़ाने के लिए पुरुषों को प्रताड़ित करना या फिर पुरुषों को आगे बढ़ाने के लिए महिलाओं को पीछे धकेलना दोनों ही गलत है। यह दिवस सफलता तभी सबित हो सकता है, जब समाज पुरुषों के योगदान को वह मान्यता दे, जिसके वे हकदार हैं और पुरुष भी महिलाओं को वह सम्मान अथवा तवज़्जो दे, जिसमें वह अपनी बराबरी को देख सके। महिलाओं को साथ लेकर बढ़ने में ही पुरुष दिवस की सार्थकता निहित है। साथ ही स्वस्थ और समतामूलक समाज की संकल्पना भी इसी में संभव है।

❑ **सहायक प्राध्यापक**, पत्रकारिता एवं जनसंचार